वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक ज्योति

स्वामी विवेकानन्द का
१५० वाँ जन्मवर्ष

वर्ष ५१ अंक ६ जून २०१३

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)
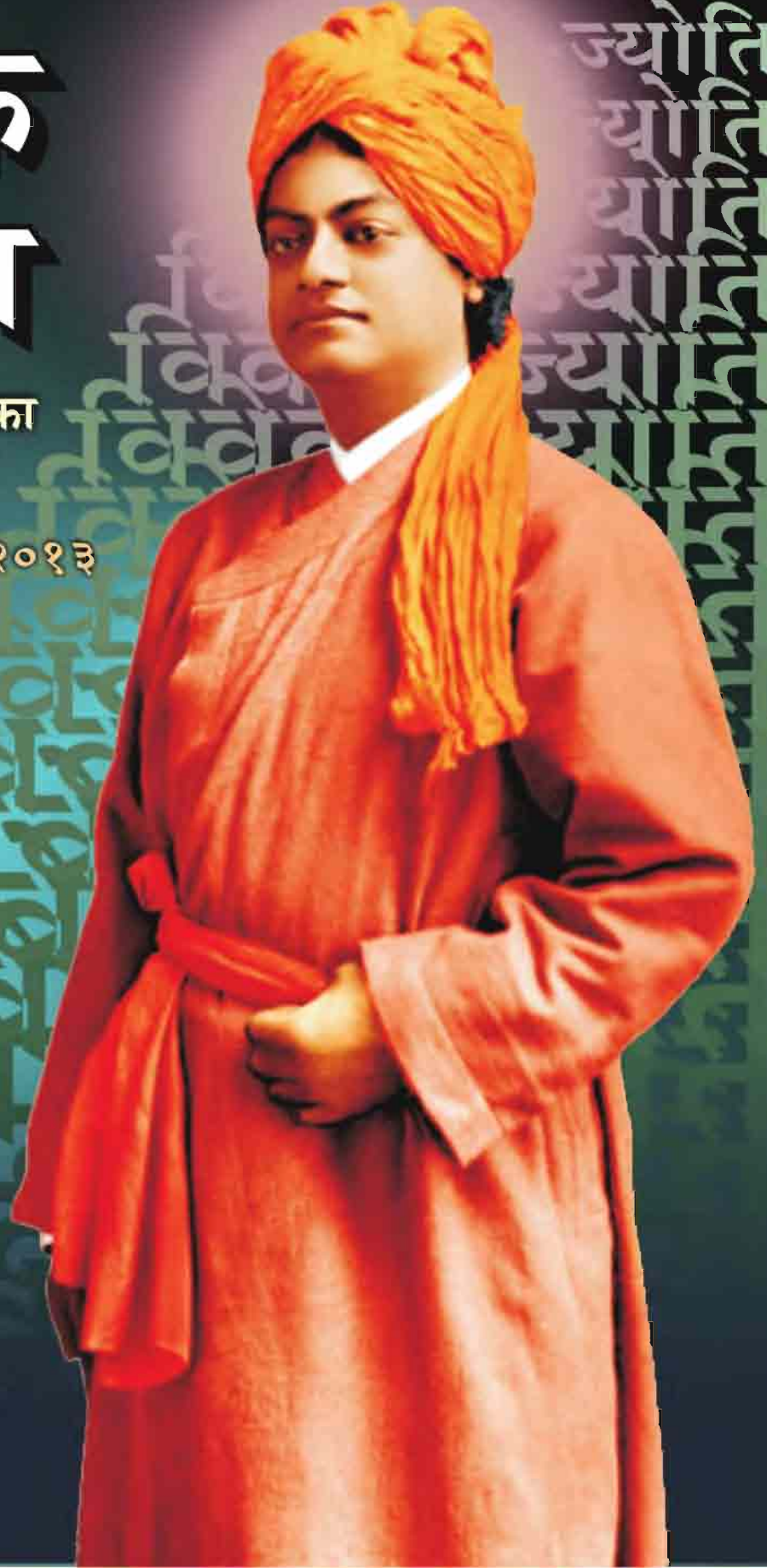
।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक ६

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

वर्ष ५१ जून २०१३ अंक ६

पुरखों की थाती

गुणवज्जन-सम्पर्काद्-याति स्वल्पोऽपि गौरवम् ।।
पुष्पाणामनुषंगेन सूत्रं शिरसि धार्यते ।।२७९।।

– गुणवान लोगों की संगति से साधारण व्यक्ति भी गौरव को प्राप्त होता है, वैसे ही जैसे कि (माले में) पुष्पों का संग करने से उसके साथ धागा भी सिर पर धारण किया जाता है।

गुणवन्तः क्लिश्यते प्रायेण भवन्ति निर्गुणा सुखिनः ।
बन्धनम् आयान्ति शुकाः यथेष्ट-संचारिणः काकाः ।।

– संसार में प्रायः गुणी लोग ही कष्ट उठाते हैं और गुणहीन लोग सुखी दिखते हैं; उदाहरणार्थ गुणी तोतों को अपनी मधुर वाणी के कारण बन्धन में रहना पड़ता है, जबकि गुणहीन कौए स्वच्छन्दतापूर्वक यथेच्छा विचरण करते रहते हैं।

गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं दूरेऽपि वसतां सताम् ।
केतकी गन्धमाघ्रातुं स्वयमायाति षट्पदाः।।२८१।।

– जिस प्रकार फैलते हुए केवड़े के फूल का गन्ध लेने के लिये भौरे स्वयं ही आ जाते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के गुण ही उसकी कीर्ति को दूर बसनेवाले सज्जनों तक पहुँचा देनेवाले दूत का काम करते हैं।

गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते पितृवंशो निरर्थकः ।।
वासुदेवं नमन्तीमे वसुदेवं न मानवाः ।।२८२।।

– सर्वत्र गुणों की ही पूजा होती है, अपने वंश का बखान करना निरर्थक है। लोग वसुदेव की नहीं, बल्कि उनके पुत्र वासुदेव श्रीकृष्ण को ही प्रणाम करते हैं।

गुणोऽपि दोषतां याति वक्रीभूते विधातरि ।
सानुकूले पुनस्तस्मिन् दोषोऽपि गुणायते ।।२८३।।

– भाग्य खराब होने पर अपने गुण भी दोष सिद्ध होते हैं और उसके अनुकूल होने पर दोष भी गुण जैसे फलदायी होते हैं।

गुणी गुणो वेत्ति न वेत्ति निर्गुणो,
बली बलं वेत्ति न वेत्ति दुर्बलः ।
पिको वसन्तस्य गुणं न वायसः
करी च सिंहस्य बलं न मूषकः ।।२८४।।

– गुणवान व्यक्ति ही दूसरों के गुणों की महत्ता समझता है, गुणहीन व्यक्ति नहीं, उसी प्रकार जैसे कि कोयल ही वसन्त ऋतु की महत्ता समझती है, कौआ नहीं; बलवान व्यक्ति ही किसी दूसरे व्यक्ति के बल को समझ सकता है, दुर्बल नहीं; हाथी ही सिंह के बल को समझ सकता है, चूहा नहीं।

गुणिनि गुणज्ञो रमते
नागुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।
अलिरेति वनात्कमलं
न हि भेकस्त्वेकवासोऽपि ।।२८५।।

– गुणों का पारखी ही गुणवान का आदर करता है, गुणों को न समझनेवाला गुणी में आनन्द नहीं पाता। कमल का रस का आस्वादन करने हेतु भ्रमर वन से उड़कर चला आता है, परन्तु उसी तालाब में निवास करनेवाला मेढ़क नहीं आता।

गुणः भूषयते रूपं शीलं भूषयते कुलम् ।
सिद्धिः भूषयते विद्यां भोगः भूषयते धनम् ।।२८५।।

– (सुन्दर) रूप का आभूषण गुण है, (उच्च) कुल का आभूषण शील (सदाचार) है, विद्या का आभूषण उसमें परि-पूर्णता है और धन का आभूषण उसका उपभोग है।

गौरवं प्राप्यते दानात् न तु वित्तस्य संचयात् ।
स्थितिः उच्चैः पयोदानां पयोधीनां अधः स्थितिः ।।

– धन के दान से ही गौरव मिलता है, न कि संचय से; मेघों को उच्च स्थिति और समुद्र को निम्न स्थिति प्राप्त है।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(मालकौंस-कहरवा)

छोड़कर भोगों की उलझन,
जपो मन रामकृष्ण प्रतिक्षण ।
करो जल्दी अपना उद्धार
क्षणिक-नश्वर है, जन-जीवन ।।१।।

करो प्रभु के चरणों का ध्यान
पढ़ो गीता-मानस का ज्ञान
काँच खण्डों में मत भूलो
शीघ्र पहचानो सच्चा धन ।।२।।

युगों तक भटके जन-वन में
मोह माया के बन्धन में,
इसे मत जाने दो निष्फल
बड़ा दुर्लभ है मानव-तन ।।३।।

सौंप दो सब कुछ प्रभु के हाथ
मिले जो, ग्रहण करो सिर-माथ,
भला कर लो 'विदेह' अपना
लगाओ सत् चित् सुख में मन ।।४।।

– २ –

कुण्डली

नदिया के इस पार बसें जो, भरते ठण्डी साँस,
कहते, सब सुख उसी पार है, रखते दृढ़ विश्वास ।

रखते दृढ़ विश्वास, भाग्य का रोना रोते,
जो कुछ मिला हुआ है, यों उसको भी खोते ।।

कह 'विदेह' बस लगें, दूर के ढोल सुहाने ।
यथालाभ सन्तोष करो, सच्चा सुख पाने ।।

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

मैं उस दिन को धन्यवाद देता हूँ, जब मैं इस धरती पर पैदा हुआ था। यहाँ मुझे कितनी सहानुभूति और कितना प्रेम मिला है! और जिस अनन्त प्रेमस्वरूप ने मुझे जन्म दिया है, उसने मेरे भले और बुरे (बुरे शब्द से डरना मत) – हर काम पर दृष्टि रखी है, क्योंकि मैं उसी के हाथ के एक यंत्र के सिवाय और हूँ ही क्या, और रहा भी क्या? उसी की सेवा के लिए मैंने अपने प्रियजनों को, अपना सुख, अपना जीवन – अपना सब कुछ त्याग दिया है। वह लीलामय ही मेरा परम-प्रेमास्पद है – और मैं उसके खेल का साथी हूँ। इस प्रपंच में कोई युक्ति-तारतम्य नहीं है। ईश्वर पर भला किस युक्ति का वश चलेगा? वह तो लीलामय है – इस जगत्-नाट्य के सभी अंशों में इसी तरह हँसी और रुदन का अभिनय कर रहा है। जैसा कि जो (मैक्लाउड) कहती हैं – बड़ा तमाशा है! बड़ा तमाशा है!

यह दुनिया बड़े मजे की जगह है और सबसे मजेदार आदमी है – वह अनन्त प्रेमास्पद प्रभु। क्या यह खूब तमाशा नहीं है? सब एक दूसरे के भाई हों या खेल के साथी हों, पर वास्तव में हैं ये मानो पाठशाला के हल्ला मचानेवाले बच्चे ही, जो इस संसाररूपी मैदान में खेलकूद करने के लिए छोड़ दिये गये हैं। बस यही है न? किसकी तारीफ करूँ और किसे बुरा कहूँ – सब तो उसी का खेल है। लोग इस प्रपंच की व्याख्या चाहते हैं – पर ईश्वर की व्याख्या तुम भला कैसे करोगे? उसके न तो दिमाग है और न युक्ति। वह हम सभी को छोटे-छोटे दिमाग और छोटी-सी विचार-शक्ति देकर धोखा दे रहा है, परन्तु अबकी बार वह मुझे धोखा न दे सकेगा।

मैंने दो एक बातें सीख ली हैं। वह यह कि भाव, प्रेम और प्रेमास्पद – ये सब युक्ति-विचार, विद्वत्ता और वागाडम्बर के बहुत परे हैं। साकी! प्रेम का प्याला भर दे, हम उसे पीकर मस्त हो जायँ।[१५०]

स्विट्जरलैंड की यात्रा –

सैस ग्रैंड, स्विट्जरलैंड, २५ जुलाई १८९६ : मैं कम-से-कम दो माह के लिए दुनिया को एकदम से भूलकर कठोर साधना करना चाहता हूँ। यही मेरा विश्राम है।... पहाड़ तथा बर्फ के दृश्य से मेरे हृदय में एक अपूर्व शान्ति-सी छा जाती है। यहाँ पर मुझे जैसी अच्छी नींद आ रही है, दीर्घ काल तक मुझे वैसी नींद नहीं आयी।[१५१]

वैलाइस, स्विट्जरलैंड, ४ अगस्त १८९६ : मैं थोड़ा-बहुत अध्ययन कर रहा हूँ – खूब उपवास कर रहा हूँ और उससे भी अधिक साधना कर रहा हूँ। वनों में भ्रमण करना बड़ा आनन्ददायक है। हमारे रहने का स्थान तीन विशाल बर्फ प्रवाहों के नीचे है तथा प्राकृतिक दृश्य भी बड़े मनोरम है। एक बात यह है कि स्विट्जरलैंड के झील में आर्यों के आदि निवास-स्थान-विषयक मेरे मन में जो भी थोड़ा-सा सन्देह था, वह अब एकदम निर्मूल हो चुका है।[१५२]

सैस ग्रैंड, स्विट्जरलैंड, ४ (?) अगस्त १८९६ : कल मैं 'मोण्टे रोसा' हिमनद के किनारे गया था और उस चिर-तुषार के प्राय: बीच में उत्पन्न कुछ सदाबहार फूल तोड़ लाया था।[१५३]

सैस फी, ५ अगस्त १८९६ : चारों ओर से चिर तुषारों से आच्छन्न हिमशिखरों से घिरे हुए इस सुन्दर वन-प्रान्तर के घासों पर बैठकर मेरे सारे विचार मेरे प्रियजनों तक जा पहुँचे हैं – अत: मैं लिख रहा हूँ।

मैं स्विट्जरलैंड में हूँ; निरन्तर यात्रा कर रहा हूँ – अत्यन्त उपयोगी विश्राम ले रहा हूँ। यह एक छोटा-मोटा हिमालय ही है; और इसमें भी मन को आत्मा तक उन्नीत करने तथा समस्त जागतिक भावनाओं तथा बन्धनों को दूर कर देने की वही क्षमता है। मैं इसका बड़ी गहराई से रसास्वादन कर रहा हूँ। मैं यहाँ बड़ा ही उन्नत अनुभव कर रहा हूँ। मैं लिख तो नहीं सकता, परन्तु मैं कामना करता हूँ कि तुम लोग भी चिर काल तक इस अनुभूति को प्राप्त करो – उस स्थिति में मानो

तुम्हारे पाँव इस भौतिक जगत् का स्पर्श तक नहीं करना चाहेंगे – तब तुम्हारी आत्मा स्वयं को मानो एक आध्यात्मिकता के समुद्र में बहती हुई महसूस करती है ।[१५४]

सैस फी, ८ अगस्त १८९६ : मैं अब विश्राम कर रहा हूँ ।... मुझे अब बहुत ताजगी मालूम होती है । मैं खिड़की से बाहर दृष्टि डालता हूँ और मुझे बड़े-बड़े हिमनद दिखते हैं और मुझे ऐसा लगता है मानो मैं हिमालय में हूँ । मैं बिल्कुल शान्त हूँ । मेरे स्नायुओं ने अपनी पुरानी शक्ति पुन: प्राप्त कर ली है, और मन को उद्विग्न करनेवाले क्लेश जैसे कि तुमने लिखे हैं मुझे स्पर्श भी नहीं करते । यह सब संसार बालकों का खेल मात्र है, उससे मैं कैसे विचलित हो सकता हूँ? प्रचार करना, शिक्षा देना सभी कुछ बच्चों का खेल हैं । **ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति** – उसे संन्यासी समझो जो न द्वेष करता है, न इच्छा करता है । (गीता, ५/३) और इस संसार की छोटी-सी कीचड़-भरी तलैया में – जहाँ दु:ख, रोग तथा मृत्यु का चक्र निरन्तर चलता रहता है, वहाँ क्या है जिसकी इच्छा की जा सके? **त्यागात् शान्तिः अनन्तरम्** – जिसने सब इच्छाओं को त्याग दिया है, वही सुखी है ।

यह विश्राम – नित्य और शान्तिमय विश्राम – इस रमणीक स्थान में उसकी झलक मुझे मिल रही है । **आत्मानं चेद् विजानीयात् अयम् अस्मि इति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरम् अनुसंज्वरेत्** – एक बार यह जानकर कि केवल इस आत्मा का ही अस्तित्व है अन्य किसी का नहीं, किस चीज की या किसके लिए इच्छा करके तुम इस शरीर का दु:ख उठाओगे? (बृहदा. ४/४/१२)

मुझे ऐसा लगता है कि लोग जिसे 'कर्म' कहते हैं, उसका मेरा हिस्सा अब पूरा हो चुका है । अब निकलने की मुझे उत्कट अभिलाषा है । **मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः** – सहस्त्रों में से कोई एक लक्ष्य को प्राप्त करने का यत्न करता है । और परम उद्योगी भी होते हैं उनमें से थोड़े ही ध्येय तक पहुँचते हैं । (गीता, ७/३) **इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः** – क्योंकि इन्द्रियाँ बलवती हैं और वे मनुष्य को नीचे की ओर खींचती है ।[१५५]

सैस फी, १२ अगस्त १८९६ : मैंने अब तक कुछ नहीं लिखा और न कुछ पढ़ा ही है । वस्तुत: मैं पूर्ण विश्राम ले रहा हूँ ।... मुझे मठ से इस आशय का पत्र मिला है कि दूसरे संन्यासी (स्वामी अभेदानन्द) रवाना होने के लिए तैयार हैं । मुझे आशा है कि वे तुम्हारी इच्छा के उपयुक्त होंगे । वे हमारे संस्कृत के अच्छे विद्वानों में हैं... और जैसा मैंने सुना है, उन्होंने अपनी अंग्रेजी काफी सुधार ली है । सारदानन्द के बारे में मुझे अमेरिका से अखबारों की बहुत-सी कतरनें मिली हैं । उनसे ज्ञात होता है कि उन्होंने वहाँ बहुत अच्छा काम किया है । मनुष्य के अन्दर जो कुछ है, उसे विकसित करने के लिए अमेरिका एक अति सुन्दर प्रशिक्षण केन्द्र है ।[१५६]

लूसर्न, स्विट्जरलैंड, २३ अगस्त १८९६ : यह जानकर कि सारदानन्द तथा गुडविन अमेरिका में अच्छी तरह से प्रचार-कार्य चला रहे हैं, मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई । मेरी अपनी बात तो यह है कि किसी कार्य के प्रतिदान स्वरूप मैं उस ५०० पौण्ड पर अपना कोई हक कायम करना नहीं चाहता । मैं तो यह समझता हूँ कि मैंने बहुत-कुछ परिश्रम किया है । अब मैं अवकाश लेना चाहता हूँ । मैंने भारत से और भी एक व्यक्ति माँगा है; आगामी माह में वे मेरे समीप आ पहुँचेंगे । मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया है, अब दूसरे लोग उसका संचालन करें । आपको तो यह पता है कि कार्य को चालू करने के लिए आर्थिक विषयों के सम्पर्क में आने के कारण मुझे मलिन होना पड़ा है । अब मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरा कर्तव्य समाप्त हो चुका है । वेदान्त अथवा जगत् के अन्य किसी दर्शन, यहाँ तक कि उस कार्य के प्रति भी अब मेरा कोई आकर्षण नहीं है । मैं प्रस्थान करने के लिए प्रस्तुत हो रहा हूँ – इस जगत् में, इस नरक में, मैं लौटना नहीं चाहता । यहाँ तक कि इस कार्य के द्वारा होनेवाले आध्यात्मिक उपकार के प्रति भी दिनोंदिन मेरी अरूचि होती जा रही है । मैं चाहता हूँ कि माँ मुझे शीघ्र ही अपने पास बुला लें! फिर कभी मुझे लौटना न पड़े! इन सब कार्यों को सम्पादन करना तथा उपकार करना आदि चित्तशुद्धि के साधन मात्र हैं । मेरे लिए वह पर्याप्त रूप में हो चुका है । जगत् चिरकाल, अनन्तकाल तक जगत् ही रहेगा । हम लोगों में जो जैसे हैं, वैसे ही वे उसे देखते हैं । कौन कार्य करता है और किसका कार्य है? जगत् नामक कोई भी वस्तु नहीं है – ये सब कुछ तो स्वयं भगवान् हैं । भ्रम से हम इसे जगत् कहते हैं । यहाँ पर न तो मैं हूँ और न तुम और न आप – एकमात्र वे ही हैं, प्रभु हैं – **एकमेवाद्वितीयम्** । अत: रुपये-पैसों के बारे में अब से मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है । ...

सांसारिक बन्धन रूप लोहे की जंजीर मैं तोड़ चुका हूँ – अब मैं धर्मसंघ-रूप सोने की जंजीर नहीं पहनना चाहता । मैं मुक्त हूँ और सदा मुक्त ही रहना चाहता हूँ । मेरी अभिलाषा है कि सभी मुक्त हो जायँ – वायु के समान मुक्त । ... जहाँ तक मेरी बात है, मैं तो एक तरह से अवकाश ले चुका हूँ । जगत् की नाट्यशाला में मेरा अभिनय समाप्त हो चुका है ![१५७]

स्काफासेन, स्विट्जरलैंड, २६ अगस्त १८९६ : अभी अभी तुम्हारा पत्र मिला । मैं लगातार घूम रहा हूँ । मैं आल्प्स में बहुत-से पहाड़ों पर चढ़ा और कई हिमनदों को पार किया । अब मैं जर्मनी जा रहा हूँ । प्राध्यापक डायसन ने मुझे कील आने का निमन्त्रण दिया है ।[१५८]

कील, जर्मनी, १० सितम्बर १८९६ : आखिर प्राध्यापक डायसन महोदय के साथ मेरी भेंट हुई । ... उनके

साथ द्रष्टव्य स्थलों को देखते और वेदान्त पर चर्चा करते हुए कल का दिन मेरा बहुत ही अच्छी तरह से बीता।

मैं समझता हूँ कि वे एक 'योद्धा अद्वैतवादी' हैं। वे अद्वैतवाद को छोड़ अन्य किसी के साथ मेल करना नहीं चाहते। 'ईश्वर' शब्द से वे आतंकित हो उठते हैं। यदि उनका बस चले, तो वे इन बातों को बिल्कुल उड़ा दें।[१५९]

मैंने अमेरिका और यूरोप में संस्कृत के कई प्राध्यापकों को देखा है। उनमें से अनेक वेदान्त की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हैं। मैं उनकी विद्वत्ता तथा नि:स्वार्थ भाव से कार्य में आत्मोत्सर्ग देखकर मुग्ध हो गया हूँ। पर पॉल डॉयसन (जो संस्कृत में स्वयं को देवसेन कहलाना अधिक पसन्द करते हैं) और वयोवृद्ध मैक्समूलर को मैं भारत तथा भारतीय विचारधारा का सर्वश्रेष्ठ मित्र मानता हूँ। कील शहर में इस उत्साही वेदान्ती, उनके भारत-भ्रमण की संगिनी उनकी मधुर प्रकृतिवाली सहधर्मिणी तथा उनकी प्रिय छोटी कन्या से मेरी प्रथम भेंट; जर्मनी और हॉलैंड होकर एक साथ लन्दन की यात्रा और लन्दन तथा उसके आसपास के स्थानों में हम लोगों का आनन्ददायक सम्मिलन – ये सब घटनाएँ मेरे जीवन की अन्य मधुर स्मृतियों के साथ चिरकाल तक बनी रहेंगी।[१६०]

वापस इंग्लैंड में –

लन्दन, १७ सितम्बर १८९६ : स्विट्ज़रलैंड में दो महीने तक पर्वतारोहण, पदयात्रा और हिमनदों का दृश्य देखने के बाद आज लन्दन पहुँचा। इससे मुझे एक लाभ हुआ – शरीर का व्यर्थ का मोटापा छँट गया और वजन कुछ पौंड घट गया। यह तो ठीक है, किन्तु उसमें भी खैरियत नहीं, क्योंकि इस जन्म में मुझे जो ठोस शरीर प्राप्त हुआ है, उसने अनन्त विस्तार की होड़ में मन को मात देने की ठान रखी है। अगर उसका यही रवैया जारी रहा, तो शीघ्र ही मुझे शारीरिक रूप में – कम-से-कम शेष सारी दुनिया की निगाह में अपनी व्यक्तिगत पहचान खोनी पड़ेगी। ...

जर्मनी में प्रोफेसर डॉयसन से मेरी भेंट सुखद थी। मुझे विश्वास है कि तुमने सुना होगा कि वे जीवित जर्मन दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। हम दोनों साथ ही इंग्लैंड आये और आज साथ ही यहाँ अपने मित्र से मिलने आये, जिनके साथ मैं अपने इंग्लैण्ड के प्रवास-काल के दौरान ठहरनेवाला हूँ। संस्कृत में वार्तालाप उन्हें अत्यन्त प्रिय है और पाश्चात्य देशों में संस्कृत के विद्वानों में वे ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो उसमें बातचीत कर सकते हैं। वे इसमें अभ्यस्त बनना चाहते हैं, इसलिए संस्कृत के सिवा अन्य किसी भाषा में मुझसे बातें नहीं करते।[१६१]

लन्दन, ७ अक्तूबर १८९६ : पुन: उसी लन्दन में !... और कक्षाएँ भी यथावत् शुरू हो गयी हैं।... मेरे समक्ष प्रति क्षण कर्मों का ताण्डव बढ़ता ही जा रहा है !... किसी निर्जन पर्वत की गुफा में चुपचाप निवास करना ही मेरा स्वाभाविक संस्कार है; किन्तु पीछे से मेरा अदृष्ट मुझे आगे की ओर ढकेल रहा है और मैं आगे बढ़ता चला जा रहा हूँ। अदृष्ट की गति को कौन रोक सकता है? ...

अब एक सभागृह – बहुत बड़ा सभागृह – हमें प्राप्त हुआ हैं; उसमें दो सौ या उससे भी अधिक व्यक्तियों के बैठने के उपयुक्त स्थान है। उसमें एक कोना ऐसा है, जिसमें पुस्तकालय स्थापित किया जा सकता है। मुझे सहायता प्रदान करने के लिए भारत से एक अन्य व्यक्ति (स्वामी अभेदानन्द) हाल ही में आ पहुँचे हैं। ...

इस समय फल, बादाम, आदि ही मेरा मुख्य आहार है; और उसी के सहारे मैं कुशलपूर्वक हूँ। ... मेरी चर्बी काफी कुछ घट चुकी है। जिस दिन भाषण देना होता है, उस दिन अवश्य कुछ ऐसा भोजन करना पड़ता है, जिससे कि पेट भरा रहे। ...

श्रीमती स्टर्लिंग के साथ आज रास्ते में भेंट हुई। आजकल वे मेरे भाषण सुनने नहीं आती हैं। यह उनके लिए अच्छा ही है, क्योंकि अत्यधिक दार्शनिकता भी ठीक नहीं है। क्या तुम्हें उन महिला की बात याद है – जो मेरे प्रत्येक भाषण के अन्त में पहुँच जाया करती थीं,... किन्तु भाषण समाप्त होने के साथ ही मुझे घेर लेती थीं तथा अपने प्रश्नों के उत्तर देने को बाध्य करती थीं; उस समय भूख से मेरे उदर में 'वाटरलू' का महासंग्राम छिड़ जाता था? वे आयी थीं, अन्य लोग भी आ रहे हैं तथा और भी आयेंगे। यह आनन्द की बात है।[१६२]

लन्दन, २८ अक्तूबर १८९६ : कल एक मैत्रीपूर्ण समिति की सभा में नए संन्यासी (अभेदानन्दजी) ने अपना प्रथम व्याख्यान दिया। व्याख्यान अच्छा था और मुझे पसन्द आया। मेरा पक्का विश्वास हैं कि इनके भीतर अच्छे वक्ता होने की क्षमता है। ... गुडविन संन्यासी बनने वाला है। वह अवश्य ही मेरे साथ भ्रमण करेगा। अपनी सभी पुस्तकों के लिए हम उसके ऋणी हैं। मेरे व्याख्यानों को उसने सांकेतिक प्रणाली में लिख लिया था और उसी से उनका पुस्तकों के रूप में प्रकाशन सम्भव हो सका है।[१६३]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१५०. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ३५२; **१५१.** वही, खण्ड ५, पृ. ३५६; **१५२.** वही, खण्ड ५, पृ. ३५७; **१५३.** वही, खण्ड ५पृ. ३७१; **१५४.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ८९; **१५५.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ५, पृ. ३६१-६२; **१५६.** वही, खण्ड ५, पृ. ३६६; **१५७.** वही, खण्ड ५, पृ. ३६६-६७; **१५८.** वही, खण्ड ५, पृ. ३७०; **१५९.** वही, खण्ड ५, पृ. ३७२; **१६०.** वही, खण्ड ९, पृ. २५४; **१६१.** वही, खण्ड ५, पृ. ३७४; **१६२.** वही, खण्ड ५, पृ. ३७८; **१६३.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ५, पृ. १२०

चरित्र की उदारता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

अँगरेजी में एक कहावत है – "If wealth is lost nothing is lost; if health is lost, something is lost; if character is lost, everything is lost." – अर्थात् "यदि धन नष्ट होता है, तो कुछ भी नष्ट नहीं होता। यदि स्वास्थ्य नष्ट होता है, तो कुछ अवश्य नष्ट होता है। पर यदि चरित्र नष्ट होता है, तो सब कुछ नष्ट हो जाता है।" यह चरित्र व्यक्ति का प्राण है, जिसके न रहने से वह चलते-फिरते मुर्दे के ही समान है। चरित्र वह गुण है, जो जीवन को सुषमा प्रदान करता है, वह दीप्ति है, जो अन्धकार के क्षणों में व्यक्ति को पथ दिखाती है; वह चट्टान है, जो प्रलोभनों के झंझावात को झेल लेता है; वह कसौटी है, जो व्यक्ति का मूल्यांकन करता है। व्यक्ति की महानता उसके चरित्र पर निर्भर करती है। कुर्सी किसी व्यक्ति को महान् नहीं बनाती। सत्ता से प्राप्त महत्ता क्षणिक होती है, वह सत्ता से अलग होते ही नष्ट हो जाती है। पर चरित्र से प्राप्त महत्ता शाश्वत होती है, वज्राघात भी उसका नाश नहीं कर सकता।

चरित्र तीन स्तम्भों पर खड़ा होता है – पहला कर्मठता; दूसरा निर्भीकता; और तीसरा निःस्वार्थता। चरित्रवान व्यक्ति में आलस्य का अभाव होता है, वह उद्यमशील होता है; कोई भी कार्य उसके लिए असम्भव नहीं होता। उसमें भय का सर्वथा अभाव होता है। वह अन्याय के सामने नहीं झुकता। उसमें साहस इतना भरा होता है कि न्याय और सत्य की रक्षा के लिए वह जोखिम उठाने से नहीं कतराता। उसमें दूसरों के लिए जीने की प्रवृत्ति होती है। वह ऐसा मानता है कि अपने लिए तो पशु भी जीते हैं, मनुष्य-जीवन की सार्थकता वह इसमें देखता है कि वह दूसरों के काम आए।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि यदि मनुष्य केवल दूसरों के लिए जिये, तो अपने परिवार की देखभाल कैसे करेगा? उसका उत्तर यह है कि जो व्यक्ति पूरी तरह से दूसरों के लिए जी रहा है, उसे अपने परिवार को देखने की चिन्ता नहीं करनी पड़ती, उसकी व्यवस्था अपने आप हो जाती है। यह कर्म का अटल सिद्धान्त है। हाँ, जो अभी पूरी तरह से दूसरों के लिए अपना जीवन नहीं दे सकता, वह कुछ समय दूसरों के लिए निकाले। वही उसके चरित्र में निखार पैदा करेगा। चरित्र को निखारने वाला तत्त्व निःस्वार्थता ही है। यदि व्यक्ति कर्मठ और निर्भीक हो, पर अपने स्वार्थ में डूबा हो, तो ऐसा व्यक्ति भले ही अपने और अपने परिवार के लिए उपयोगी हो, पर वह दूसरों के लिए उपयोगी नहीं हो पाता। जब चरित्र निःस्वार्थता की कसौटी पर कसा जाता है, तब उसमें निखार उत्पन्न होता है। ऐसा ही व्यक्ति समाज और देश के काम आता है।

चरित्र को रीढ़ की हड्डी कहा गया है। यदि रीढ़ की हड्डी दुर्बल हो या खराब हो, तो मनुष्य अपंग हो जाता है। उसी प्रकार चरित्र के बिना व्यक्तित्व भी अपंग या खोखला हो जाता है।

जिस देश में चरित्रवान् व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होगी, वह देश जीवन के सभी क्षेत्रों में उतना ही समृद्ध होगा। मन्दिर में जाना, पूजा-पाठ आदि करना चरित्र की कसौटी नहीं है। ये चरित्र को प्रकट करने का साधन बन सकती हैं, यदि इन क्रियाओं के पीछे हमारा मनोभाव दिखावे का अथवा स्वार्थपूर्ति का न हो। खेद की बात तो यह है कि अधिकांशत: हमारी धार्मिक क्रियाएँ भी हमारे स्वार्थ-साधन का ही अंग होती हैं और इसलिए वे हमारे चरित्र के प्राकट्य में साधक होने के बदले बाधक बन जाती हैं। ❑❑❑

सभी धर्म एक ही ईश्वर की प्राप्ति कराते हैं

मैं अतीत के समस्त धर्मों को स्वीकार करता और उनकी पूजा करता हूँ। मैं सभी धर्मों के अनुसार ईश्वर की उपासना करता हूँ, चाहे वे जिस रूप में उसकी पूजा करते हों। मैं मुसलमानों के साथ मसजिद में जाऊँगा, ईसाइयों के साथ गिरजाघर में जाकर क्रास के सामने घुटने टेकूँगा, बौद्ध विहार में प्रविष्ट होकर बुद्ध तथा उनके संघ की शरण करूँगा और तपोवन में हिन्दुओं के साथ बैठकर, ध्यान में निमग्न होकर, सबके हृदय में उद्भासित करनेवाली ज्योति का दर्शन पाने की चेष्टा करूँगा। – ***स्वामी विवेकानन्द***

रामराज्य की भूमिका (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है । – सं.)

भगवान राम ने सनकादि ऋषियों को प्रणाम किया। वे तो हर तरह के पूर्ण ब्रह्म हैं – तत्त्वत: भी और व्यवहार में भी ! ब्रह्म ही उनके रूप में अवतरित हुए हैं। उन्हें किसी को प्रणाम करने की क्या आवश्यकता थी? तथापि उन्होंने इन चारों महात्माओं को साष्टांग प्रणाम किया। इसका क्या तात्पर्य है? जिसे यह भय लगे कि प्रणाम करने से मेरा बड़प्पन नष्ट हो जायगा, उसका बड़प्पन नकली ही होगा। वस्तुत: पूर्णता तो वही है, जो हर परिस्थिति में पूर्ण हो। उन्हें लोग प्रणाम करें, तो भी वे पूर्ण हैं और वे सबको प्रणाम करें, तो भी पूर्ण हैं। वे तो अपने आप में ही पूर्ण हैं। तो प्रभु किसी को भी प्रणाम करने में संकोच नहीं करते। यही उनके ज्ञान की गरिमा है, यही अखण्डमय की एकरूपता है –

ग्यान अखंड एक सीताबर ।। ७/७७/४

अखण्ड ज्ञान रूप भगवान श्रीराघवेन्द्र ने साष्टांग प्रणाम किया। और इन चारों महात्माओं ने? – भेदबुद्धि न होने पर भी भगवान की स्तुति की। बड़ी सुन्दर स्तुति की। उन्होंने भगवान से कहा – आज हम आपसे कुछ माँग रहे हैं। बोले – आप लोग तो सर्वदा ब्रह्मानन्द में लीन रहते हैं, अब भी कुछ पाना बाकी है क्या? –

ब्रह्मानंद सदा लयलीना।। ७/३२/४

उन्होंने कहा – ब्रह्मानन्द भले ही चरम अवधि है, पर एक रस लेने की इच्छा हमारे मन में हुई है। – क्या? बोले – हम याचना करते हैं कि आप अपने चरणों में प्रेमाभक्ति दीजिये –

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ।। ७/३४

मस्तिष्क के सन्तोष के लिये तो ज्ञान यथेष्ट है, पर हृदय की तृप्ति के लिए इस प्रेमाभक्ति-रस की आवश्यकता है और चारों महात्मा इसी रस की याचना करते हैं। भगवान मौन भाव से मुस्कुराकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं और ये चारों महात्मा चले जाते हैं।

श्रीभरत उस अद्भुत दृश्य को देख रहे थे। उन्होंने सोचा – प्रभु सन्तों को इतना सम्मान देते हैं, तो उनसे जरा सन्तों के लक्षण भी पूछ लें। पर भरतजी में संकोच की पराकाष्ठा है। शील और संकोच – उनके स्वभाव और मन-प्राण के कण-कण में समाया हुआ है। पूछ नहीं पा रहे हैं। वे हनुमानजी की ओर देखते हैं; उनका संकेत यह था कि आपके और प्रभु के बीच संकोच नहीं है, अत: मेरा प्रश्न आप ही कर दीजिए। हनुमानजी ने प्रभु को प्रणाम करके कहा – भरतजी आपसे कुछ पूछना चाहते हैं। प्रभु बोले – पूछ तो तुम रहे हो। उन्होंने कहा – उन्हें प्रश्न करने में संकोच लग रहा है –

नाथ भरत कछु पूँछन चहहीं ।
प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं ।। ७/३५/६

इस पर प्रभु ने एक ही वाक्य में दोनों की प्रशंसा की – आधे में भरतजी की और आधे में हनुमानजी की। बोले – हनुमान, तुम तो मेरा स्वभाव जानते हो –

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ ।
भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ ।। ७/३५/७

भगवान का प्रभाव तो बहुत-से लोग जानते हैं और प्रभाव का परिचय तो दूर से ही मिलता है, पर जब हम किसी के निकट पहुँचते हैं, अन्तरंग रूप से मिलते हैं, तब हमें उसके स्वभाव का ज्ञान होता है। भगवान कहते हैं कि गिने चुने लोग ही मेरे स्वभाव को जानते हैं।

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ ।
जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ ।। ५/४८/१

पहले हनुमानजी की प्रशंसा करते हुए प्रभु ने उनकी महिमा बताई और अगले वाक्य में बोले – तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो मैं बाद में दूँगा। पहले तुम यह बताओ कि क्या भरत में और मुझमें रंचमात्र भी भेद है? –

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ ।
भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ ।। ७/३५/७

वही अभिन्नता ! प्रभु कहते हैं कि भरत और मुझमें रंचमात्र भी भेद नहीं है। बड़ा विलक्षण व्यवहार है ! प्रभु ने भरतजी की ओर देखा और पूछा – भरत, तुम्हारे हृदय में क्या भ्रम है? तो श्रीभरत ने जो कहा, वह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं है, क्योंकि भरतजी के सन्दर्भ में बार-बार मिलता है –

मोहि समान को पाप निवासू ।। २/१७९/३
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू ।। २/१७९/५

पर यहाँ भरतजी की भाषा बदली हुई है। यह पूर्णता की

भाषा है। वे कहते हैं – प्रभो, जाग्रत की तो बात ही क्या, सपने में भी मेरे मन में सन्देह-शोक-मोह का लेश नहीं है –

नाथ न मोहि सन्देह कछु,
सपनेहुँ सोक न मोह।। ७/३६

सब चकित होकर देखने लगे। क्या यह भरतजी की भाषा है? आज वे यह क्या बोल रहे हैं? पर उनका भाव क्या है? यदि कोई भरतजी से पूछे – आप तो ऐसी भाषा कभी बोलते नहीं थे, आज आपने कह दिया कि सपने में भी शोक-मोह-भ्रम नहीं है, यह कैसी बात है? तो भरतजी कहेंगे – अभी-अभी तो प्रभु ने मेरी ओर अपनी अभिन्नता का प्रतिपादन किया है। यदि मुझमें शोक, मोह और भ्रम होगा, तो प्रभु में भी होगा। इसलिए यह सब न उनमें है और न मुझमें। मुझमें और उनमें रंचमात्र भी भिन्नता नहीं है। प्रभु ने मुस्कुराकर देखा – कभी तो यह वेदान्त की भाषा बोले; वैसे तुम तो सदा दैन्य की भाषा बोलने के अभ्यस्त हो! पर भरतजी तब भी सावधान हैं। वे बोलते हैं, तो ज्ञान के सत्य का दावा करते हैं। यही व्यक्ति के जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि व्यक्ति के जीवन में शोक, मोह और भ्रम का लेश भी न रह जाय, पर उसके बाद भी उनका भक्तिरस – उनका भक्त हृदय अगले वाक्य में ही प्रकट हो जाता है – मुझे शोक-मोह-भ्रम नहीं है, वह केवल आपकी कृपा से है –

नाथ न मोहि सन्देह कछु, सपनेहुँ सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि चिदानंद सन्दोह।। ७/३६

भरतजी श्रीराम से अभिन्न होते हुए भी, उस अभिन्नता के स्थान पर भक्ति की भिन्नता को स्वीकार करते हैं। भिन्नता को स्वीकार किए बिना भक्ति की साधना हो ही नहीं सकती।

श्रीराम और भरतजी यदि अभिन्न हैं, तो भरतजी यह भी तो निर्णय कर सकते थे कि हम प्रभु से अभिन्न हैं, उनसे अलग नहीं हैं, उनसे एकत्व का अनुभव करते हैं, तो हमें चित्रकूट जाने की कोई आवश्यकता नहीं। पर भरतजी ने ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी जब चित्रकूट के रूप में साधना के पथ को स्वीकार किया, तो मानो राम-चरित-मानस की यह मान्यता हमारे समक्ष आती है कि अद्वैत सत्य होते हुए भी जीवन में हम साधना तभी कर सकेंगे, जब हम किसी-न-किसी स्तर पर द्वैत को, भेद को स्वीकार करें; और इस भेद, इस द्वैत का सर्वोत्कृष्ट रूप क्या है? एक द्वैत तो वह है, जो संसार में भेद और संघर्ष की सृष्टि करता है, राग-द्वेष की सृष्टि करता है; और दूसरा द्वैत वह है, जो भरतजी ने श्रीराम के सन्दर्भ में स्वीकार किया। भरतजी चित्रकूट जा रहे हैं। श्रीराम और भरतजी देखने में इतने एक जैसे हैं कि गाँव की स्त्रियों के मन में यह प्रश्न उठता है – अरे, ये राम और लक्ष्मण तो फिर से दिखाई दे रहे हैं –

रामु लखनु सखि होहिं कि नाहीं।। २/२२१/१

किसी ने कहा – राम-लक्ष्मण तो चित्रकूट की ओर गये थे; यदि ये राम-लक्ष्मण होते तो चित्रकूट से लौटकर इधर आते हुए दिखते, ये तो अयोध्या से आ रहे हैं।

एक पैनी दृष्टिवाली नैयायिक स्त्री ने कुछ भेद बताए। लोक की भाषा में, संसार की भाषा में कुछ भेद बताया जाता है। तो जीव और ब्रह्म – इन्हें आप चाहें, तो 'नित्य सखा' कह लीजिए अथवा अद्वैत के सन्दर्भ में उनको 'अभिन्न' कह लीजिए, पर भिन्नता भी सत्य है और अभिन्नता भी सत्य है। साधना के लिये भिन्नता सत्य है और अनुभूति के लिये अभिन्नता सत्य है। दोनों अपने-अपने स्थान पर उपयोगी हैं। सखी ने भरतजी की ओर देखते हुए कहा – कुछ अन्तर लग रहा है। – क्या? – उनका और इनका वेष एक जैसा नहीं है। दूसरी सखी ने तर्क किया – वेष तो बदलने वाली वस्तु है; कपड़े का क्या है, एक उतारकर दूसरा पहन लिया। बोली – एक दूसरा अन्तर भी दिखाई दे रहा है। – क्या? – उनके साथ सीताजी थीं, इनके साथ नहीं हैं। – तो सीताजी को छोड़कर भी तो आ सकते हैं। यह भी कोई बात हुई? बोली – एक अन्तर और है। – क्या? बोली – राम के आगे कोई नहीं था, वे सबसे आगे चल रहे थे। और इनके आगे-आगे चतुरंगिनी सेना चल रही है –

बेषु न सो सखि सीय न संगा।
आगें अनी चली चतुरंगा।। २/२२१/३

कहा – यह आगे पीछे का क्रम तो बदल सकता है। बोली – नहीं, एक बहुत बड़ा अन्तर है। – क्या? बोली – श्रीराम के मुख पर एक क्षण के लिए भी विषाद की रेखा दिखाई नहीं पड़ी, पर इनके मुख पर तो विषाद की रेखा है। यह स्वभाव बताता है कि इन दोनों में भिन्नता है –

नहि प्रसन्न मुख मानस खेदा।
सखि सन्देहु होइ एहिं भेदा।। २/२२१/४

इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर तो अनेक भेद दिखाई देते हैं, पर यदि व्यवहार की भाषा में कहें, तो भेद यदि सत्य भी है, तो वह यह कि जीव दु:ख और पीड़ा की अनुभूति करता हुआ चल रहा है और ब्रह्म स्वयं अपने में परिपूर्णता का अनुभव कर रहा है। उसके अन्तर्मन में कोई विषाद या दु:ख नहीं है। यही अन्तर है।

और भरतजी की चित्रकूट की यात्रा क्या है? मन्थरा और कैकेयी ने उन्हें अयोध्या का राजा बनाने की चेष्टा की, पहले तो उन दोनों ने सोचा कि हमने कोई बहुत बड़ी वस्तु पा ली। भरतजी जब ननिहाल से लौटे, तो कैकेयी ने सोने की थाल में उनकी आरती उतारते हुए कहा था – भरत, सारा काम बिगड़ रहा था, पर मैंने सब सँभाल लिया, बिगड़ी हुई बात मैंने बना ली। बेचारी मन्थरा ने भी बड़ी सहायता की –

तात बात मैं सकल सँवारी ।
भै मंथरा सहाय बिचारी ।। २/१६०/१

कैकेयीजी ने तो कल्पना कर लिया था कि भरत सुनेंगे, तो गद्गद होकर यह कहते हुए मेरे चरणों में गिर पड़ेंगे – माँ, तुमने मेरे लिये इतना कष्ट उठाया, मुझे राज्य दिलाया। इसलिये कैकेयी यह भी कह देती हैं कि मन्थरा का भी ध्यान रखना; इस योजना में मुख्य भूमिका उसी की है। पर वही प्रश्न आता है कि राज्यपद देकर कैकेयी भरत को छोटा बनाना चाहती है या बड़ा? और यही बात हर सन्दर्भ में उठती है कि संसार के व्यवहार के सन्दर्भ में तो व्यक्ति छोटा प्रतीत होता है और पद पा जाय तो बड़ा हो जाता है। तो क्या पद व्यक्ति को बड़ा बनाता है? कोई पद मिल जाने से व्यक्ति बड़ा हो जाता है क्या?

अगर तत्त्वत: विचार करें, तो व्यक्ति इतना बड़ा है कि कोई भी पद उसे उससे बड़ा नहीं बना सकता। वह जो भी पद बनायेगा, वह उसके स्वयं के पद की तुलना में अत्यन्त हीन, परिच्छिन्न होगा और परितर्वनशील होगा। वह कभी-न-कभी जाने वाला होगा। प्रत्येक पद के साथ भूतपूर्व जोड़ने की परम्परा है। अर्थात् जो पद आज है, वह कल नहीं रहेगा। हमारे परिचित एक डिप्टी कलेक्टर थे। बड़े सत्संगी थे। उनके मन में बड़ी जिज्ञासा रहती थी। एक दिन उन्होंने पूछा – आपने कभी भूत देखा? मैंने कहा – एक भूत तो आप ही हैं। बोले – अरे, यह तो आप विनोद कर रहे हैं, मैं तो सचमुच पूछ रहा हूँ। मैंने कहा – अरे भाई, आप अपने नाम के सामने हमेशा भूतपूर्व लिखते हैं, तो आप भूत ही हैं न ! मरने के बाद जो दिखाई न दे, वह भूत है। आप पहले थे, पर अब नहीं हैं, तो आप भूत ही न हुए। भूत का और क्या अर्थ है? व्यक्ति का यह दुर्भाग्य है कि वह सचमुच इतना बड़ा है कि उसे उससे बड़ा बनाने की सामर्थ्य किसी वस्तु या पद में नहीं है। पर व्यक्ति को उस पद का ज्ञान नहीं है। उस पद के रहस्य को, उसकी महिमा को वह नहीं जानता।

इसलिए श्रीभरत ने जब अयोध्या के राज्यपद को अस्वीकार कर दिया, तो लोगों ने कहा कि कितने बड़े त्यागी हैं, इतने बड़े राज्यपद को अस्वीकार कर दिया। भरतजी ने सुना, तो बोले – कोई बड़े पद के लोभ में छोटा पद छोड़ दे, तो वह त्यागी नहीं लोभी है। कैकेयी और मन्थरा मिलकर मुझे बहुत छोटा पद दिला रही थीं। पर श्रीरघुनाथ-पद – ब्रह्मपद पाये बिना मेरे जी की जलन नहीं मिटेगी –

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ।। २/१८२

जब कहते हैं कि ब्रह्म से अभिन्न हैं, अंश हैं, तो भी सही, पर जीव का भी मूल स्वरूप ब्रह्मपद ही तो है –

ईस्वर अंस जीव अबिनासी ।
चेतन अमल सहज सुखरासी ।। ७/११६/२

जब इतना दिव्य उसका पद है; और जो पद कभी भूत होता ही नहीं, जो शाश्वत है, सदा एकरस है; तो इससे बड़ा पद कोई हो ही नहीं सकता। चित्रकूट की यात्रा को आप इस रूप में देखें कि भरतजी वह जीव हैं, जिसको संसार के पदार्थों की असारता का भान हो गया है, वैराग्य हो गया है; जिसको संसार के भोगों का राज्य और सत्ता की नश्वरता का बोध है। वे जानते हैं कि कैकेयी उन्हें बड़ा बनाने की चेष्टा में कितना छोटा बना रही हैं और उन्होंने कितनी बड़ी समस्या खड़ी कर दी है। यही है भरतजी का दर्शन। एक ओर मन्थरा की भेदबुद्धि है, कैकेयी की भेदबुद्धि है और दूसरी ओर व्यवहार में भरतजी भी भेदबुद्धि को स्वीकार किये हुए हैं। पर उनकी यह भेदबुद्धि भक्तिरस से ओतप्रोत है और वे इसी की प्रेरणा से चित्रकूट की यात्रा करते हैं।

इस चित्रकूट की यात्रा में मैं आपको एक सूत्र यह भी दे दूँ कि अयोध्या में रामराज्य की स्थापना सबसे अन्त में हुई। वस्तुत: रामराज्य की स्थापना सर्वप्रथम चित्रकूट में हुई। यही हम लोगों के जीवन का भी सत्य है। जब रामराज्य बनेगा, तो चित्रकूट में पहले बनेगा और अयोध्या में बाद में बनेगा।

इसे मैं दो वाक्यों में स्पष्ट कर दूँ। रामायण में इन स्थानों का आन्तरिक रूप भी प्रगट किया गया है। जो बाहर है, वह भीतर है। चित्रकूट बाहर है, तो भीतर भी है। अयोध्या बाहर है, तो भीतर भी है। दोनों का बड़ा महत्त्व है। अयोध्या की भूमि क्या है और चित्रकूट की भूमि क्या है? अयोध्या की भूमि शुद्ध बुद्धि की भूमि है और चित्रकूट चित्त की भूमि है।

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु ।। १/३१

यदि हम रामराज्य बनाना चाहें, तो वह पहले चित्त में बनेगा या बुद्धि में? रामराज्य यदि पहले बुद्धि में बन पाता, तो नित्य ही रामराज्य का प्रतिपादन हो रहा है और वह बुद्धि से आपको ठीक ही लगता होगा। मैं यही विश्वास करके चल रहा हूँ, पर रामराज्य तो बन नहीं पाता। रोज जेबकतरों से सावधान रहने की सूचना देनी पड़ती है। तो बुद्धि से समझ लेना भी एक उपलब्धि तो है। कम-से-कम उतनी देर तक तो आप रामराज्य के आनन्द की अनुभूति पा ही सकते हैं। लेकिन आगे चलकर जब आप व्यवहार के क्षेत्र में आते हैं, तो जो समस्या आती है, उसकी ओर गोस्वामीजी ने ध्यान आकृष्ट किया है। **विनय पत्रिका** में उन्होंने कहा कि समस्या तो एक ही है। – क्या? – कहते हैं, सुनते हैं, समझाया जाता है, समझ में भी ठीक आ जाता है, पर जहाँ तक जीवन में क्रियान्वित होने की दशा आ नहीं पाती –

सुनिय, गुनिय, समुझिय, समुझाइय,
दसा हृदय नहिं आवै ।। वि.प. ११६/२

बुद्धि कब भ्रमित हो जायगी, इसका कोई ठिकाना नहीं। कैकेयीजी की बुद्धि बड़ी पैनी थी, पर उनकी सारी बुद्धिमत्ता मन्थरा द्वारा आक्रान्त हो जाती है। हम लोगों की बुद्धि के समक्ष भी यही समस्या है। बुद्धिमान-से-बुद्धिमान व्यक्ति न जाने कब भ्रम में पड़ जाय, कब संशय की दिशा में मुड़ जाय, कब प्रलोभन में पड़ जाय और ये मन्थरा के ही तीनों रूप हैं। भक्ति की दृष्टि से वह संशयात्मिका वृत्ति है और ज्ञानयोग की दृष्टि से वह भेदवृत्ति है। बुद्धि के साथ ये तीनों समस्याएँ हैं – भेद की, संशय की और लोभ की –

बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई ।। ७/११८/७

ऐसी स्थिति में बुद्धि का उपयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। अन्त में रामराज्य की राजधानी अयोध्या ही बनेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन कब? जब श्रीराघवेन्द्र अयोध्या से चित्रकूट जायेंगे, वहाँ से दण्डकारण्य जायेंगे, वहाँ से लंका जायेंगे और लंका से लौटकर जब पुन: अयोध्या पधारेंगे, तब ! इस बीच में उसके लिए रामराज्य की भूमि या भूमिका तैयार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य भरतजी करेंगे।

जब तक मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार – इन चारों का परिशोधन नहीं हो जाता, जब तक मन के दण्डकारण्य और अहंकार की लंका के दोषों के विरुद्ध चुनौती नहीं दी जाती, जब तक अहंकार के राज्य पर अधिकार नहीं कर लिया जाता, तब तक रामराज्य की स्थापना नहीं हो सकती। इसके लिये आवश्यक है कि सबसे पहले अयोध्या से उठकर चित्रकूट अवश्य जाया जाय। बुद्धि अयोध्या से ऊपर उठकर चित्त के राज्य चित्रकूट में प्रवेश किया जाय। ....

साधना की परम्परा क्या है? पातंजल-योग-दर्शन में योग का जो वर्णन किया गया है, उसकी सम्पूर्ण व्याख्या आप यहाँ यथावत् पायेंगे। गोस्वामीजी ने भरतजी का वर्णन एक योगी के रूप में किया है। एक योगी दशरथ हैं और एक योगी भरतजी हैं। दशरथजी ऐसे योगी हैं, जो बुद्धि की भूमि पर ही माया के द्वारा परास्त कर दिये गये।

कवनें अवसर का भयउ गयउ नारि बिस्वास ।
जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अबिद्या नास।।२/२९

दूसरे योगी भरतजी हैं, जो अयोध्या से चित्रकूट की यात्रा करते हैं। वहाँ जब उन्होंने श्रीराम का दर्शन किया, तो –

करत प्रबेस मिटे दुख दावा।
जनु जोगीं परमारथु पावा।। २/२३९/३

तात्पर्य यह कि बुद्धि के द्वारा अस्वीकार किया हुआ सत्य बहुधा स्थाई नहीं होता। लेकिन चित्त – जहाँ से संस्कारों का प्रवाह होता है, वह सबके अन्तराल में विद्यमान है और हमारे मन-बुद्धि-अहंकार का प्रेरक है। वह चित्त अगर चंचल होगा, तो उसकी स्थिति अस्थिर होगी, अशान्त होगी और वह चित्त अगर निरुद्ध होगा, वृत्तियाँ निरुद्ध होंगी, तो उसकी स्थिति शान्त और स्थिर होगी। तो भरतजी की चित्रकूट-यात्रा का क्या अभिप्राय है?

गुरु वशिष्ठ ने भरतजी से कहा था कि तुम चौदह वर्ष राज्य चलाओ और उसके बाद जब राम लौटकर आयें, तब राज्य तुम उन्हें दे देना। कई लोगों को ऐसा लगता है और वे तर्क भी करते हैं कि अन्तत: भरतजी को यही तो करना पड़ा। चौदह वर्ष उन्होंने राज्य चलाया और श्रीराम जब आए तो सिंहासन पर बैठे। तो इतने लोगों – माताओं, अयोध्या के नागरिकों और गुरु वशिष्ठ को लेकर चित्रकूट जाना, यह एक व्यर्थ का परिश्रम ही तो हुआ। यदि उन्होंने गुरु वशिष्ठ की बात पहले ही मान ली होती, तो शायद इतना निरर्थक श्रम न करना पड़ता। पर इसे यदि आध्यात्मिक अर्थों में देखें, तो बात बड़ी समझने योग्य है और व्यावहारिक भी है।

समाज या लोगों की सेवा करना क्या बहुत बड़ी साधना नहीं है? तो ऐसी परिस्थिति में यदि भरतजी राजा के रूप में अयोध्या के राज्य का संचालन करें, तो भी वे प्रजा के प्रति अच्छा व्यवहार करके, अच्छी व्यवस्था करके अच्छे राज्य की स्थापना कर सकते थे। पर जब भरतजी चित्रकूट से लौटकर अयोध्या का व्यवहार चलाते हैं, तो इसमें हम सबके लिये एक सूत्र है। – क्या? – सेवा करने से पहले चित्रकूट की यात्रा अवश्य कीजिए। हम लोग चित्रकूट अवश्य चलें। इसे हम दृष्टान्त के रूप में यों कहना चाहेंगे कि यदि किसी व्यक्ति के मन में लोगों की सेवा करने की इच्छा हो और यह इच्छा यदि ऐसे व्यक्ति के मन में हो, जिसे टी.बी. या तपेदिक है और वह सोचे कि हम प्यासों को जल पिलायेंगे। तो जब वह जल पिलाएगा, तो प्यासे लोग तो जल पीयेंगे ही। पीयेंगे, तो उनकी प्यास भी मिटेगी। अब प्रश्न यह है कि यदि जल में उसके रोग के कीटाणु पैठे हुए हैं, तो जो कोई भी उस जल को पीयेगा, उसके शरीर में वह रोग पैठेगा या नहीं। इसी प्रकार जो दूसरों की सेवा करते हैं, यदि वे स्वयं ही मन को रोगी है, तो सेवा के बहिरंग साधनों के द्वारा वे लोगों के शरीर की आवश्यकता की पूर्ति भले ही कर दे, पर जो रोगी मन लेकर सेवा करेंगे, वे अपने मन का रोग सामनेवाले व्यक्ति में पैठायेंगे। यह समाज की एक बहुत बड़ी समस्या है। समाज की सेवा करने वालों की संख्या बहुत बड़ी है, पर सेवकों की इतनी बड़ी संख्या होते हुए भी रोग बढ़ते ही जा रहे हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि सेवा का दावा करने वाले बुद्धि की अयोध्या में बैठकर सेवा की बात करते हैं, उनका ध्यान चित्रकूट की ओर नहीं जाता। उन्हें चित्रकूट की आवश्यकता का बोध नहीं होता। चित्रकूट उन्हें व्यर्थ लगता है। पर चित्रकूट की आवश्यकता है। ध्यान और प्रार्थना की प्रक्रिया वस्तुत: समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध – चित्रकूट है।

प्रात:काल जब हम लोग उठते हैं, तो बहुतों का मन की भूमि में प्रवेश हो जाता है, कई लोग बुद्धि की भूमि में भी प्रवेश कर पाते हैं, परन्तु जो लोग प्रार्थना और उपासना के द्वारा चित्त की अन्तरंग भूमि में प्रवेश पा जाते हैं, चित्त में ईश्वर से मिलकर एकाकार होते हैं और वहाँ से लौटकर जब सेवा करते हैं, तो अभिमानी के रूप में नहीं, अपितु ईश्वर के यंत्र के रूप में सेवा करते हैं। उनकी सेवा केवल उनके अहं के प्रदर्शन हेतु या केवल ख्याति के लिए नहीं होती है।

अत: श्रीभरत की चित्रकूट-यात्रा जीवन की अनिवार्य यात्रा है। राज्य चलाने के पूर्व, व्यवहार चलाने से पहले, चित्रकूट जाना ही चाहिए। यहाँ भी रामराज्य का एक सूत्र आ गया। भरतजी चित्रकूट गये, तो अकेले नहीं गये; अपने साथ पूरे समाज को, अयोध्या के सारे नागरिकों को साथ लेकर गये। तो एक व्यक्ति यदि चित्तवृत्ति का निरोध कर ले, तो भी यह एक बड़ी उपलब्धि है, पर रामराज्य का अभिप्राय है – केवल व्यक्ति को ही नहीं, पूरे समाज को उस उपलब्धि का भागीदार बना देना। रामराज्य का लक्ष्य पूरे समाज की परिपूर्णता है।

भरतजी जिस समाज को लेकर अयोध्या से चित्रकूट जा रहे हैं, उसमें कौशल्याजी, सुमित्राजी, वशिष्ठजी तो हैं ही, उसमें कैकेयीजी भी शामिल हैं। कैकेयी क्रिया हैं। सारे अनर्थ उन्होंने किए। महाराज दशरथ ने उनका मुँह देखना बन्द कर दिया। दशरथजी का दर्शन था कि जो क्रिया जीव को ईश्वर से दूर कर दे, उसका परित्याग कर दो। और भरतजी ने क्या किया? जब चित्रकूट गये, तो कैकेयी को भी साथ लेकर गये। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हम यह निर्णय कर लें कि क्रिया में अनेक बुराइयाँ हैं, अत: हम क्रिया करना ही बन्द कर दें, तो क्या यह व्यक्ति के लिए सम्भव है? अत: भरतजी का मार्ग यह है कि क्रिया के परित्याग की नहीं, अपितु क्रिया को भगवान की ओर ले जाने की आवश्यकता है। क्रिया के द्वारा भी हम चित्रकूट की यात्रा करें। वहाँ पर कैकेयी जी के अन्तर्जीवन में ग्लानि उत्पन्न होती है। क्रिया में यदि हमसे कोई गलती हो जाय और हमारे मन में ग्लानि हो, पश्चात्ताप हो, तो वह क्रिया भी भगवान से मिला देती है।

इसके बाद चित्रकूट में कैकेयी और श्रीराम का भी मिलन होता है। कैकेयी वहाँ पहुँचकर अपनी अपराध-भावना से मुक्त होती हैं। तो भरतजी – ज्ञानमयी कौशल्या, भावनामयी सुमित्रा, क्रियामयी कैकेयी, धर्माचार्य गुरु वशिष्ठ, अगणित नर-नारी – सारे समाज को चित्रकूट ले जा रहे हैं। श्रीभरत जब चित्रकूट में प्रवेश करते हैं, तब तक वहाँ रामराज्य बन चुका था। रामराज्य का वह सूत्र गोस्वामीजी ने लिखा है –

ईति भीति जनु प्रजा दुखारी ।
त्रिबिध ताप पीड़ित ग्रह मारी ।।
जाइ सुराज सुदेस सुखारी ।
होहिं भरत गति तेहि अनुहारी ।।
राम बास बन संपति भ्राजा।
सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा ।। २/२३४/३-५

– जैसे एक अकाल पड़े हुए देश की और तीनों तरह के तापों तथा क्रूर ग्रहों और महामारियों से पीड़ित प्रजा किसी अच्छे राज्य में पहुँचकर सुख का अनुभव करती है, वैसे ही भरतजी भी चित्रकूट पहुँचकर आनन्द अनुभव करते हैं कि श्री रामचन्द्रजी के निवास से वन की सम्पत्ति ऐसी सुशोभित है, मानो अच्छे राजा को पाकर प्रजा सुखी हो। सुहावना वन ही पवित्र देश है।

तो रामराज्य क्या है? कौन है रामराज्य का राजा? कौन है मंत्री, कौन है सेनापति? कौन हैं रानियाँ? गोस्वामीजी भरतजी की आँखों से देख रहे हैं।

वहाँ वैराग्य मंत्री हैं। हम लोगों के तो राग-द्वेष ही मंत्री होते हैं। मैं आज के मंत्रियों की नहीं, बल्कि अपने जीवन के मंत्रियों की बात कर रहा हूँ। अर्थात् हम लोग तो अपनी सारी मंत्रणा राग-द्वेष के साथ ही करते रहते हैं। राग-द्वेष से मंत्रणा करेंगे, तो सलाह भी राग-द्वेष से प्रेरित ही मिलेगा। तो फिर रामराज्य कहाँ से बनेगा? इसलिए राजा कौन होगा रामराज्य का – जहाँ पर वैराग्य मंत्री है और विवेक राजा है –

सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू ।
बिपिन सुहावन पावन देसू ।। २/२३५/६

रामराज्य में सेना कौन है? सद्गुण – यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) और नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) ही सेना है और सेनापति हैं। इस रामराज्य में राजा विवेक और उसकी दो सुन्दर पतिव्रता रानियाँ हैं – शान्ति और सुमति –

भट जम नियम सैल रजधानी ।
सांति सुमति सुचि सुंदर रानी ।। २/२३५/७

मोह रूपी राजा को सेना सहित जीतकर विवेक रूपी राजा निष्कण्टक राज्य कर रहा है। उसके नगर में सुख, सम्पत्ति और सुकाल विद्यमान है –

जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु ।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु ।। ७/२३५

अन्तत: रामराज्य कब बना? जब मोह का राजा विनष्ट हुआ। विवेक का राज्य हुआ, वैराग्य मंत्री बना, सद्गुणों के सैनिक हुए, शान्ति-सुमति रानियाँ हुईं, तब रामराज्य का निर्माण हुआ। इस रामराज्य की कल्पना को श्रीभरत ने कैसे साकार किया, आगे हम इसी की चर्चा करेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

प्रत्येक महान् जगद्गुरु के साथ उनके सन्देशों के प्रचार हेतु आये उनके प्रमुख शिष्य में उनका ही एक दूसरा सक्रिय रूप दिखाई देता है। ईसा मसीह के साथ सेंट पीटर और बाद में सेंट पाल थे, श्रीकृष्ण के साथ अर्जुन, बुद्ध के साथ आनन्द, चैतन्यदेव के साथ नित्यानन्द; और अवतारी पुरुषों की परम्परा में सबसे बाद में अभी आये श्रीरामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द को अपने प्रयोजन के लिए प्रमुख शिष्य के रूप में चुना था।

यदि स्वामी विवेकानन्द आधुनिक भावधारा के प्रतीक थे, तो श्रीरामकृष्ण प्राचीन परम्परा में भारत का जो कुछ सर्वोत्कृष्ट था, उसका प्रतिनिधित्व करते थे। वस्तुत: नरेन्द्रनाथ का स्वामी विवेकानन्द में रूपान्तरण श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ के व्यक्तित्वों के मिलन का फल समझा जा सकता है। इन दो महत् व्यक्तियों का सम्बन्ध – मात्र गुरु और शिष्य का नहीं था। वह दो प्रचण्ड इच्छाशक्तियों का भी मेल था, जिसके फलस्वरूप एक प्रचण्ड आध्यात्मिक शक्ति उदित हुई, जिसने विश्व पर नवोदित सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश बिखेर दिया। वह संगम था – प्राचीन और अर्वाचीन का, पूर्व और पश्चिम का, धर्म और विज्ञान का, प्रेम और ज्ञान का, भक्ति और सेवा का। इस प्रकार इन दोनों महान् व्यक्तियों का मिलन एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है।

कलकत्ते के सिमुलिया मुहल्ले के एक कुलीन कायस्थ परिवार में १२ जनवरी, १८६३ को जन्मे नरेन्द्र एक सुन्दर युवक के रूप में बड़े हुए। उनमें प्रत्युत्पन्न मति, तीव्र मेधा और विलक्षण स्मरणशक्ति, सत्यानुराग और विचार तथा कार्य की पवित्रता के प्रति निष्ठा – इन सब गुणों का अद्भुत समावेश था।

नरेन्द्रनाथ की किशोरावस्था के बारे में उनके कालेज के एक सहपाठी ब्रजेन्द्रनाथ सील ने लिखा है – "निस्सन्देह वे एक प्रतिभाशाली युवक थे – मिलनसार, व्यवहार में स्वाधीन तथा रूढ़िमुक्त, एक बहुत अच्छे गायक, सामाजिक गोष्ठियों के प्राण, कुशल वाग्मी, यद्यपि थोड़े तीखे और व्यंग्यात्मक – पर अपने तर्कों की धार से संसार के दिखावटीपन और थोथे आदर्शों को काटनेवाले – क्रुद्ध युवा की कुर्सी पर बैठकर तीखी आलोचना के मुखौटे के पीछे वे अपना अत्यन्त कोमल हृदय छुपाये रखते थे – पूरी तरह से एक उत्साही उन्मुक्त व्यक्ति के समान, पर उन्मुक्त व्यक्ति में जिस बात की कमी रहती है, उस प्रचण्ड इच्छा-शक्ति से युक्त ... और, सर्वोपरि, आँखों में ऐसा विलक्षण तेज, जो श्रोताओं को मुग्ध किये रखता था।"

तीव्र मेधा और अद्भुत स्मरणशक्ति के धनी नरेन्द्र ने विश्व-इतिहास, भूगोल, गणित, दर्शन, साहित्य, संगीत आदि विषयों का खूब उत्साह के साथ अध्ययन किया था और उन्होंने 'हेलेनीय सौन्दर्य तथा आंग्ल-जर्मन विचारों की एक समायोजित पूर्णता में गठबन्धन' करने की चेष्टा की थी।[१]

कॉलेज के दिनों में पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार पढ़कर उनका ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास डोल गया था। वे ईश्वर पर विश्वास करने के पूर्व ईश्वर के अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण चाहते थे। यद्यपि उनकी बुद्धि के स्तर पर सार्वभौमिक तार्किक विचार प्रमुख थे, पर उनका संवेदनशील स्वभाव शुष्क विचारणा मात्र से सन्तुष्ट नहीं था। वे एक सुदृढ़ आधार चाहते थे, ऐसा गुरु चाहते थे, जो जीवन में पूर्णता का ज्वलन्त विग्रह हो और जो उनका मार्गदर्शन कर सके। अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वे अपने समकालीनों से पृथक् दिखाई पड़ते थे। अपने कॉलेज के सहपाठियों से भिन्न उनमें दार्शनिक विवेचन के अलावा आध्यात्मिक जीवन के प्रति एक उत्कट खिंचाव था।

उनकी आध्यात्मिक जीवन की खोज ही उन्हें ब्राह्मसमाज से जुड़े कई तत्कालीन धार्मिक आचार्यों के पास ले गयी। वे महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर से भी मिले थे, जिन्होंने उन्हें प्रोत्साहित किया था। वे उस समय केशवचन्द्र सेन के चौम्बकीय व्यक्तित्व और वक्तृत्व से प्रभावित थे। उनकी भजन-मण्डली में वे गायक के रूप में सम्मिलित हो गये थे तथा 'आशा दल' के सदस्य थे। साधारण ब्राह्म-समाज का गठन होने पर, वे उसी के निष्ठावान सदस्य बन गये थे।[२] वे जन-शिक्षा, नवगोपाल मित्र का हिन्दू मेला आदि अन्य गतिविधियों में भी सम्मिलित होते थे।

नरेन्द्र जनरल असेम्बली इन्स्टीट्यूट जहाँ वे पढ़ते थे। उन्होंने सर्वप्रथम दक्षिणेश्वर के रामकृष्ण परमहंस का नाम सम्भवत: उसी के प्राचार्य रेवरेंड विलियम हेस्टी के मुख से सुना था। हेस्टी साहब ने वर्ड्सवर्थ की 'एक्सकर्शन' (Excursion) शीर्षक कविता पढ़ाते समय भावसमाधि को समझाते समय श्रीरामकृष्ण का उदाहरण दिया था। यह भी सम्भव है कि नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण का नाम अपने नजदीक के ब्राह्मसमाजियों से भी सुना हो। ब्राह्म-समाज की पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में परमहंस देव पर प्रशंसात्मक

१. रोमाँ रोलाँ : 'दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण', कलकत्ता, १९७४, पृ. २२४

२. डॉ. आर. सी. मजूमदार : 'स्वामी विवेकानन्द, ए हिस्टोरिकल रिव्यू', जनरल प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता, १९६५, पृ. ६

लेख छपते रहते थे; और यह माना जा सकता है कि अतीव अध्ययनशील नरेन्द्र ने वह सब निश्चित ही पढ़ा होगा। इसके अलावा, इस सम्भावना को भी नकारा नहीं जा सकता कि नरेन्द्र ने अपने पड़ोसी रामचन्द्र दत्त और सुरेन्द्रनाथ मित्र से उनके बारे में सुना हो, जो परमहंस देव के परम भक्त थे। वस्तुत: १८७९ ई. में जब रामचन्द्र दत्त परमहंस देव के निष्ठावान भक्त बने, तब से परमहंस देव सिमुलिया में काफी प्रसिद्ध हो गये थे। तथापि ऐसा लगता है कि इतनी सारी जानकारी भी नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर के परमहंस के दर्शनों के लिए प्रेरित नहीं कर सकी थी।

कब और किन परिस्थितियों में नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण से पहली बार मिले थे, इस विषय में कई तरह के वर्णन मिलते हैं। स्वामी विवेकानन्द के प्राच्य व पाश्चात्य शिष्यों द्वारा लिखित उनकी अँगरेजी जीवनी 'दि लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द' के प्रथम संस्करण (भाग १, पृ. ५३) में दोनों की दक्षिणेश्वर में हुई भेंट 'उनकी प्रथम मुलाकात' के रूप में वर्णित हुई है, वैसे वहाँ नवम्बर १८८१ में सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर हुई दोनों की भेंट का भी एक संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' के लेखक स्वामी सारदानन्द स्पष्ट रूप से बताते हैं कि पहली भेंट २८ नवम्बर १८८१ को नरेन्द्रनाथ के एफ. ए. की परीक्षा में बैठने से पूर्व सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर पर हुई थी। राखाल चन्द्र घोष श्रीरामकृष्ण से छह माह पूर्व मिल चुके थे और वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने भी इस बात की पुष्टि की है।[३] आश्चर्य की बात तो यह है कि नरेन्द्रनाथ जब वे 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' के लेखक महेन्द्रनाथ गुप्त से श्रीरामकृष्ण से हुई अपनी प्रथम भेंट का वर्णन करते हैं, तो स्वयं इस घटना का उल्लेख नहीं करते। अस्तु, उनके अधिकांश जीवनीकार इस बात पर सहमत हैं कि सिमुलिया के सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर ही पहली बार दोनों की भेंट हुई थी। और इसी भेंट ने दक्षिणेश्वर में उनकी उस ऐतिहासिक प्रथम भेंट के लिए भूमिका तैयार की थी।

नरेन्द्रनाथ उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय से एफ. ए. की परीक्षा देने के लिए तैयारी कर रहे थे। सुरेन्द्रनाथ मित्र ने सिमुलिया के अपने घर में दक्षिणेश्वर के सन्त को आमंत्रित किया था और उस उपलक्ष्य में एक उत्सव का आयोजन किया था। यह सम्भवत: नवम्बर १८८१ की घटना है।[४] कोई अन्य अच्छा गायक उपलब्ध न होने से सुरेन्द्रनाथ ने नरेन्द्र से भक्तमण्डली को भजन सुनाने के लिए जोर देकर अनुरोध किया था। नरेन्द्र की मधुर आवाज ने श्रीरामकृष्ण को मुग्ध कर दिया था।

नरेन्द्र और श्रीरामकृष्ण की इस अनायास भेंट का बहुत थोड़ा-सा वर्णन लिपिबद्ध मिलता है। नरेन्द्र सम्भवत: उस समय दक्षिणेश्वर के परमहंस से विशेष प्रभावित नहीं हुए थे। वस्तुत: नरेन्द्रनाथ की दृष्टि में वे अन्य साधारण लोगों जैसे ही लगे, उनको उनमें कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं दिखा।[५] पर दूसरी ओर श्रीरामकृष्ण ने अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से देख लिया था कि इस उग्र तथा आँधी की भाँति प्रचण्ड युवक के बाह्य आवरण के भीतर उनका बहु-प्रतीक्षित सन्देशवाहक शिष्य छिपा हुआ है। स्पष्ट है कि वे उस युवक की ओर आकर्षित हुए।[६] सुरेन्द्रनाथ मित्र से बात करके तथा बाद में नरेन्द्र के सम्बन्धी[७] रामचन्द्र दत्त से पूछकर उन्होंने नरेन्द्र के बारे में जानकारी ले ली। गाना समाप्त हो जाने पर श्रीरामकृष्ण गायक के पास आये, सावधानीपूर्वक उसके शरीर के लक्षणों को देखा और उसे प्रेमपूर्वक यथाशीघ्र दक्षिणेश्वर के मन्दिर में आने का निमंत्रण दिया।

श्रीरामकृष्ण ने इसके पूर्व ही एक दिव्य दर्शन में नरेन्द्रनाथ को देखा था। परवर्तीकाल में श्रीरामकृष्ण ने अपने निकटस्थ शिष्यों के समक्ष इसका वर्णन किया था। एक दिन समाधि में मग्न होकर उन्होंने देखा कि उनका मन एक ज्योतिर्मय पथ पर ऊपर उठता जा रहा है; और अन्त में खण्ड और अखण्ड की सीमा-रेखा को पार करके वह अखण्ड के राज्य में प्रविष्ट हो गया। वहाँ उसने दिव्य ज्योतिर्घनतनु सात प्राचीन ऋषियों को समाधिस्थ बैठे देखा, जो ज्ञान और पुण्य में देवताओं से भी श्रेष्ठ थे। जब वे विस्मित होकर उनके महत्त्व के विषय में सोच ही रहे थे, इतने में उन्होंने देखा कि अखण्ड, भेदरहित, समरस, ज्योतिर्मण्डल का एक अंश घनीभूत होकर मानो एक दिव्य शिशु में परिणत हो गया है। वह देवशिशु उन ऋषियों में से एक के पास जाकर अपने कोमल हाथों से उनका आलिंगन करके अपनी अमृतमयी वाणी से उन्हें समाधि से जगाने की चेष्टा करने लगा। शिशु के कोमल प्रेम-स्पर्श से ऋषि समाधि से जाग्रत हुए और अधखुले नेत्रों से उस अपूर्व बालक को देखने लगे। उनके मुख पर प्रसन्नोज्ज्वल भाव देखकर ज्ञात हुआ – कि वह बालक मानो उनका बहुत दिनों का परिचित हृदयधन है। वह देवशिशु अति आनन्दपूर्वक उनसे कहने लगा, 'मैं जा रहा हूँ, तुम्हें भी आना होगा।' उसके अनुरोध पर ऋषि के कुछ न कहने पर भी उनके प्रेमपूर्ण नेत्रों से अन्तर की सहमति प्रकट हो रही थी। इसके बाद ऋषि पुन: समाधिस्थ हो गये। श्रीरामकृष्ण ने तब आश्चर्यचकित

३. द्र. 'स्वामी ब्रह्मानन्द' (बँगला), कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, पृ. ४८; **४.** 'लीलाप्रसंग', सं. २००८, खण्ड २, नागपुर, पृ. ७९३, 'दि लाइफ' (सं. १९५६, पृ. ३०) तथा रोमाँ रोलाँ के अनुसार पहली भेंट नवम्बर १८८१ में हुई थी। पर यह बात उन परिस्थितियों में ठीक नहीं जँचती। कुछ अन्य जीवनीकारों के समान नरेन्द्रनाथ के सहपाठी प्रियनाथ सिन्हा (जो गुरुदास बर्मन के नाम से लिखते थे) अपने बँगला ग्रन्थ 'श्रीरामकृष्ण चरित' में सुरेन्द्रनाथ मित्र के घरवाली भेंट का वर्णन ही नहीं करते।

५. 'विवेकानन्द साहित्य', सप्तम खण्ड, पृ. २५९; **६.** 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', सं. २००८, खण्ड २, नागपुर, पृ. ७९३। स्वामी ब्रह्मानन्द कहते थे – हमें ऐसा लगा कि नरेन्द्रनाथ को उस दिन देखते ही श्रीरामकृष्ण उनके प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। **७.** महेन्द्रनाथ दत्त ने लिखा है कि रामचन्द्र दत्त भुवनेश्वरी देवी के चचेरे भाई थे, जबकि स्वामी गम्भीरानन्द के अनुसार 'मामा' थे (युगनायक विवेकानन्द, १९९८, भाग १, पृ. ८६)

होकर देखा कि ऋषि के शरीर-मन का एक अंश उज्ज्वल ज्योति के रूप में परिणत होकर, विलोम मार्ग से धराधाम में जाकर वहाँ अवतीर्ण हुआ, जहाँ नरेन्द्रनाथ रहते थे। श्रीरामकृष्ण ने जब नरेन्द्र को पहली बार देखा, तभी वे समझ गये कि यह वही ऋषि है। बाद में पूछे जाने पर श्रीरामकृष्ण ने स्वीकार किया था कि वह देवशिशु और कोई नहीं, वे स्वयं ही थे।

यह लगभग निश्चित-सा हो गया है कि ठाकुर और उनके शिष्य का पहली 'मुलाकात' दिसम्बर १८८१[८] के किसी दिन हुआ था। नरेन्द्र के एफ. ए. पास करने के तुरन्त बाद ही उनके पिता अपनी पसन्द की कन्या से उनका विवाह कर देना चाहते थे।[९] उसमें मोटे दहेज का भी प्रलोभन था, जिससे नरेन्द्र इंग्लैंड जाकर आइ. सी. एस. की परीक्षा में बैठ सकते थे। नरेन्द्र ने पूरी दृढ़ता के साथ मना कर दिया, क्योंकि उन्हें लगा कि विवाह से उनकी आध्यात्मिक प्रगति रुक जाएगी। यौवन में पदार्पण करने के बाद से ही नरेन्द्र के अन्तर्मन में जीवन की दो विपरीत कल्पनाएँ उठा करती थीं – एक ओर ऐश्वर्य, आराम और सुख से भरपूर सांसारिक जीवन की कल्पना थी और दूसरी ओर सत्य की खोज में निकले संन्यासी के त्यागपूर्ण जीवन की। उनके मन में ये कल्पनाएँ विशेषकर रात में सोने से पूर्व उठा करतीं और अन्ततः वह परवर्ती कल्पना ही उनके हृदय पर अधिकार कर बैठती। धीरे-धीरे यह कल्पना घनीभूत होकर उनके भीतर सत्य को जानने की प्रबल इच्छा में परिणत हो गयी और वे उसके लिये रास्ता पाने के लिए बेचैन हो उठे। रामचन्द्र दत्त उनकी सहायता के लिये आगे आये। उन्होंने सुझाव दिया, "यदि तुम्हें धर्मलाभ करने की ही इच्छा हो, तो ब्राह्मसमाज आदि स्थानों में वृथा भटकने के स्थान पर दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास जाओ।"[१०]

नरेन्द्र को दक्षिणेश्वर जाने की सलाह देनेवाले चाहे रेवरेंड हेस्टी रहे हों, या रामचन्द्र दत्त, सुरेन्द्रनाथ मित्र रहे हों या कोई अन्य व्यक्ति, सत्य तो यह है कि इस युवक के भीतर सुलगती हुई जो आध्यात्मिक ज्वाला थी, उसके अन्दर सत्य को जानने की जो गहरी पिपासा थी और सर्वोपरि, परिस्थितियों का जो चक्र था, उसी ने उन्हें श्रीरामकृष्ण के चरणों में आश्रय लेने को प्रेरित किया था। भुवनेश्वरी देवी के अनुसार, "रामचन्द्र ही नरेन्द्र को श्रीरामकृष्ण के पास ले गये थे।"[११] पर कुछ जीवनीकार लिखते हैं कि सुरेन्द्रनाथ मित्र ने नरेन्द्र से साथ में दक्षिणेश्वर चलने का आग्रह किया था और तदनुसार नरेन्द्र एक दिन अपने दो या तीन साथियों के साथ सुरेन्द्रनाथ की घोड़ागाड़ी में उनके साथ दक्षिणेश्वर गये।[१२] पर यह तो सर्वमान्य है कि यह ऐतिहासिक

८. 'दि लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द' (कलकत्ता, १९८०) के नवीन परिवर्धित संस्करण में (खण्ड १, पृ. ६०) यह ठीक ही लिखा है कि नरेन्द्र 'अपने दो साथियों के साथ पहली बार दक्षिणेश्वर दिसम्बर १८८१ में गये थे'। स्वामी गम्भीरानन्द ने अपने लेख 'त्यागी भक्तदेर श्रीरामकृष्ण-समीपे आगमन' (उद्बोधन, बंगाब्द १३५७, आश्विन एवं कार्तिक संख्या) में दिसम्बर १८८१ को प्रथम भेंट का समय बताया गया है। एस. एन. धर ने रविवार, १५ जनवरी १८८२ को इस ऐतिहासिक भेंट का दिन माना है और इसके पक्ष में तर्क दिये हैं ('ए कॉम्प्रिहेंसिव बायोग्राफी ऑफ स्वामी विवेकानन्द', तृ.सं. २००५, खण्ड १, पृ. ११२), पर वे तर्क ठोस नहीं प्रतीत होते; क्योंकि हम पाते हैं कि रविवार, २९ जनवरी १८८२ को मनोमोहन, रामचन्द्र, सुरेन्द्रनाथ, नरेन्द्र और नित्यगोपाल – इन पाँचों ने दक्षिणेश्वर की यात्रा की थी। अपने परिचित भक्तों के सामने श्रीरामकृष्ण ने माँ-काली की सुन्दर व्याख्या की थी ('तत्त्वमंजरी', वर्ष ९, अंक ११, पृ. २०० के अनुसार)। तब तक नरेन्द्र उस टोली में काफी परिचित हो चुके थे। धर के अनुसार नरेन्द्र की दूसरी दक्षिणेश्वर यात्रा ५ फरवरी १८८२ तथा तीसरी १२ फरवरी १८८२ को हुई थी। आगे हम पाते हैं कि नरेन्द्र १९ फरवरी १८८२ को दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव में उपस्थित थे। ('तत्त्वमंजरी', भा. १०, सं. १, पृ. ११ के अनुसार) पर मंगलवार ७ फरवरी १८८२ को जब रामचन्द्र और नित्यगोपाल दक्षिणेश्वर गये थे, तब वे अनुपस्थित थे। ('तत्त्वमंजरी', वर्ष ९, अंक १, पृ. ३)
९. 'अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द' (नागपुर, प्र.सं., पृ. १०१) के अनुसार नरेन्द्र प्रायः दक्षिणेश्वर जाया करते थे। लाटू नरेन्द्र से उनके मकान पर श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के परवर्ती दिन अर्थात् २० फरवरी १८८२ को मिले थे। लाटू ने उनसे कहा, "कल वहाँ कितना उत्सव हुआ, आप गये क्यों नहीं? वे आपको बहुत खोज रहे थे। मेरे साथ वहाँ चलिये। वे आपको देखना चाहते हैं।' नरेन – 'मेरे पास अभी वहाँ जाने का समय नहीं है। परीक्षा सिर पर है, अभी क्या पगले बम्हन के साथ समय बिता सकूँगा?' यहाँ 'परीक्षा' से तात्पर्य सम्भवतः कॉलेज की आन्तरिक परीक्षा से था। अब तक नरेन्द्र सम्भवतः कई बार दक्षिणेश्वर जा चुके थे। इस घटना से उसका भी मेल हो जाता है कि नरेन्द्र की पहली भेंट एफ.ए. परीक्षा के एकदम पहले हुई होगी, २८ नवम्बर १८८१ से शुरू होकर पाँच दिन चली थी।

१०. 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भा. ३, पृ. ५१। इस प्रकार जोर देकर दी हुई सलाह सुनकर नरेन्द्र ने अपने चाचा ज्ञान को दक्षिणेश्वर के परमहंस के पास भेजा था। उनके अनुरोध पर वे गये और लौटकर बताया कि दक्षिणेश्वर के तथाकथित परमहंस निरे पागल हैं – 'श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथि' के (पृ. ३२८-२९) में अक्षयकुमार सेन द्वारा व्यक्त यह विचार अन्य किसी भी लेखक द्वारा पुष्ट नहीं होता। **११.** भूपेन्द्रनाथ दत्त : 'स्वामी विवेकानन्द, पेट्रियॉट प्रॉफिट – ए स्टडी', कलकत्ता, १९५४, पृ. १५५; **१२.** गुरुदास बर्मन के अनुसार नरेन्द्र रामचन्द्र दत्त के संग अकेले ही दक्षिणेश्वर गये थे। बैकुण्ठनाथ सान्याल का भी यही मत है ('श्रीश्रीरामकृष्ण लीलामृत', बँगला, द्वितीय संस्करण, पृ. २८६)। गिरीश चन्द्र घोष ने भी अपने लेख में यही मत व्यक्त किया है (गिरीश चन्द्र घोष : 'श्रीरामकृष्ण ओ विवेकानन्द', उद्बोधन, वर्ष ७, अंक १५ माघ, १३११ बंगाब्द)। परन्तु अक्षयकुमार सेन कहते हैं कि नरेन्द्र सुरेन्द्रनाथ मित्र के साथ अकेले दक्षिणेश्वर गये थे।

मनोमोहन 'तत्त्वमंजरी' में लिखते हैं – '१८८१ के पौष (नवम्बर-दिसम्बर) महीने में भक्त रामचन्द्र दत्त, सुरेन्द्रनाथ मित्र और नरेन्द्रनाथ दत्त के साथ यह दीन सेवक भी एक गाड़ी से दक्षिणेश्वर पहुँचा था।' ('भक्त मनोमोहन', बँगला, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित के पृ. ७८ पर उद्धृत) उसके बाद वे वर्णन करते हैं कि किस प्रकार रामचन्द्र दत्त ने नरेन्द्र का श्रीरामकृष्ण से परिचय कराया।

स्वामी शुद्धानन्द की डायरी, जो स्वामी विवेकानन्द की जीवनी का एक

घटना जाड़ों में दिसम्बर १८८१ के एक अपराह्न में घटी थी ।[१३]

श्रीरामकृष्ण ने अपनी कठोर साधनाओं के द्वारा इस अद्भुत सत्य का आविष्कार किया था कि हिन्दू, बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम के पथ उसी एक चरम लक्ष्य – ईश्वर तक पहुँचाते हैं, जो विभिन्न मतों द्वारा अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है । श्रीरामकृष्ण ने दिखलाया कि आर्थिक, सामाजिक अथवा कलात्मक जीवन तभी सुरक्षित हो सकता है, जब मानव का जीवन आध्यात्मिक आदर्श की नींव पर खड़ा हो । लोग उनके व्यवहार की सरलता तथा निरंकारिता से मुग्ध हो जाते थे । उनमें ऐसी आध्यात्मिक शक्ति थी कि वे स्पर्श या दृष्टि मात्र से, या एक वाक्य या इच्छा मात्र से ही उन लोगों के जीवन को रूपान्तरित कर सकते थे । साधक में निहित सम्भावना को उसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त पथ पर विकसित कर देने की उनकी विधि अनूठी थी । नरेन्द्र ने बाद में उनके विषय में कहा था, "मैं तो सारे संसार में घूमा हूँ, पर मैंने अपने जीवन में उनके जैसा कोई अन्य व्यक्ति नहीं देखा । जब मैं उनके बारे में सोचता हूँ, तो लगता है कि मैं मूर्ख हूँ, क्योंकि मैं किताबें पढ़ना चाहता हूँ और उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया । वे कभी दूसरे की जूठी पत्तल नहीं चाटना चाहते थे । इसीलिए वे स्वयं अपनी किताब थे ।"[१४] एक अन्य प्रसंग में उन्होंने कहा था, "उन होंठों ने कभी किसी को शाप नहीं दिया, न ही कभी किसी की निन्दा की । वे नेत्र पाप को देखने की सम्भावना के परे थे, उनके चित्त से पाप के विचार पूरी तौर से नष्ट हो गये थे । वे अच्छे के सिवाय कुछ नहीं देखते थे । ... श्रीरामकृष्ण एक शक्ति थे । यह मत सोचो कि उनका मत ऐसा या वैसा था । बल्कि वे वह शक्ति हैं, ... जो संसार में कार्य कर रही है ।"[१५] युवक नरेन्द्र इसी व्यक्ति से मिलने आये थे ।

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में छोटे तख्त पर बैठे हुए थे । वे लाल किनार की सामान्य धोती पहने हुए थे । सम्भव है उन्होंने सर्दियों की अपनी सामान्य पोशाक – हरे रंग की लाल किनारी वाली शाल ओढ़ रखी हो । मझोले कद के श्रीरामकृष्ण का शरीर दुबला और अत्यन्त कोमल था । अर्धोन्मीलित नेत्र और छोटी-छोटी दाढ़ियों से युक्त उनके चेहरे को देखकर आगन्तुक सहसा यह अनुमान नहीं लगा सकता था कि उसके पीछे एक असाधारण व्यक्तित्व छिपा हुआ है । उनकी मुसकुराहट मोह लेनेवाली थी । उनकी हल्की तुतलाहट भरी ग्राम्य बँगला भाषा अपने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किये रहती ।

श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र की यात्रा का वर्णन इन शब्दों में किया है, "नरेन्द्र पहले दिन पश्चिम (गंगा) की ओर के द्वार से इस कमरे में प्रविष्ट हुआ था । मैंने देखा, अपने शरीर का उसे जरा भी ध्यान नहीं है, सामान्य लोगों की तरह बाहर के किसी पदार्थ पर कुछ ख्याल ही नहीं है । सब कुछ निराला है । आँखें देखकर लगा मानो उसके मन को किसी ने जबरन अन्तर्मुखी बना रखा हो । मुझे लगा कि विषयी लोगों की इस नगरी कलकत्ते में क्या इतने बड़े सत्त्वगुणी आधार रहना भी सम्भव है !

"फर्श पर चटाई बिछी हुई थी । मैंने उसे उस पर बैठने के लिए कहा । जहाँ इस समय गंगाजल का घड़ा है, उसी के पास वह बैठ गया । उस दिन उसके साथ उसके दो-चार मित्र भी आये थे । देखा – उनका स्वभाव पूर्णत: विपरीत है – सामान्य विषयी लोगों की भाँति भोग की ओर ही दृष्टि है ।

"गाना गाने की बात पूछने पर मालूम हुआ, उस समय उसने दो ही चार बँगला गीत सीखे हैं । उन्हीं को गाने के लिए कहा । इस पर उसने ब्राह्मसमाज का 'मन चलो निज निकेतने'[१६] गीत

महत्त्वपूर्ण स्रोत है, में एक अलग ही वर्णन है । वे लिखते हैं कि नरेन्द्र पहली बार दक्षिणेश्वर हेमाली और अन्य लोगों के साथ गये थे । हेमाली उनका और राखाल – दोनों का मित्र था । वे एक किराये की नौका से गये थे । उन्होंने नाववाले को भाड़ा के रूप में चार आने दिये थे । राखाल कई बार पहले दक्षिणेश्वर जा चुके थे, इसलिए वे मार्गदर्शक बने थे । इस वर्णन के अनुसार यह श्रीरामकृष्ण से नरेन्द्र की दूसरी भेंट थी, पहली सुरेन्द्रनाथ मित्र के घर पर हो चुकी थी । फिर यह स्वामी सारदानन्द के वर्णन से भी मिलता है कि यह दल पश्चिम दरवाजे से श्रीरामकृष्ण के कमरे में प्रविष्ट हुआ था । जो पैदल या घोड़ागाड़ी द्वारा कलकत्ते से दक्षिणेश्वर पहुँचते थे, वे उनके कमरे में पूर्वी दरवाजे से प्रवेश करते थे । उत्तरी हवा से बचने के लिए उत्तरी दरवाजा बाँस की चटाई से बन्द था । स्वामी सारदानन्द का मत है कि नरेन्द्र की पहली दक्षिणेश्वर यात्रा उनकी श्रीरामकृष्ण से दूसरी भेंट थी, पर 'म' ('श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', सं. १९९९, भाग २, पृ. १२४७) में निम्नलिखित वार्तालाप लिपिबद्ध करते हैं – 'म' – पहले-पहल जिस दिन उनसे तुम्हारी मुलाकात हुई थी, वह दिन तुम्हें अच्छी तरह याद है?

नरेन्द्र – मुलाकात दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर में हुई थी, उन्हीं के कमरे में । उस दिन मैंने दो गाने गाये थे ।

बँगला भाषा की पुस्तक 'कथामृत' के पाँचवें खण्ड के परिशिष्ट में मिलता है : 'तीन वर्ष पूर्व (१८८२) नरेन्द्र अपने कुछ ब्राह्म मित्रों के साथ श्रीरामकृष्ण के दर्शनों के लिए दक्षिणेश्वर आये थे और रात्रि में वहाँ रुके थे ।' सम्भवत: यह किसी बादवाली भेंट के सम्बन्ध में हैं, पर उससे यह निश्चित है कि पहली भेंट के समय 'म' उपस्थित नहीं थे ।

१३. 'वचनामृत', भाग २, पृ. ११९४ में लिखा है कि १ जनवरी १८८२ ई. को सिमुलिया ब्राह्म-समाज के वार्षिक महोत्सव में नरेन्द्र, राखाल केदार आदि ज्ञान चौधरी के मकान पर एकत्र हुए थे । यह भी लिखा है कि "नरेन्द्र ने केवल थोड़े दिन हुए, राम आदि के साथ जाकर दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का दर्शन किया है । वे बीच-बीच में सिमुलिया ब्राह्मसमाज में आते थे और वहाँ पर भजन-गाना एवं उपासना करते थे ।"

१४. विवेकानन्द साहित्य, भाग ३, सं. १९६३, कलकत्ता, पृ. २२०; **१५.** वही, पृ. २६१; **१६.** स्वामी शुद्धानन्द की डायरी के अनुसार श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को पहचान लिया कि उसे पहले सुरेन्द्रनाथ मित्र के यहाँ देखा था । उन्होंने नरेन्द्र से कहा, "मुझे तुम्हारा गाना सुनने की बहुत इच्छा है । उस दिन तुमने गाया था । वे बहुत अच्छे थे ।" उन दिनों वे हिन्दी के कुछ शास्त्रीय गाने तथा ब्राह्मसमाज के कुछ बँगला भजन ही जानते थे ।

अयोध्यानाथ पकड़ाशी के लिखे इस गीत का भावार्थ है – 'मन अपने घर चलो । संसार-विदेश में विदेशी के वेश में क्यों वृथा भटक रहे हो?

गाया, इतनी तन्मयता के साथ सोलह आने मन-प्राण देकर गाया मानो ऐसा प्रतीत होता था कि ध्यानस्थ होकर गा रहा है । गाना सुनकर मैं स्वयं को सँभाल नहीं सका, भावाविष्ट हो गया ।''[१७]

श्रीरामकृष्ण का मन ज्योंही सामान्य भूमि पर उतरा, वे अपने दिव्य मुस्कान से दीप्त मुख से बोले, ''देखो ! नरेन किस प्रकार ज्ञान की देवी सरस्वती के आलोक से प्रकाशित हो रहा है !''[१८] कमरे में उपस्थित लोग यह सुनकर आश्चर्यचकित हुए, पर इसके मर्म को नहीं समझ सके । ठाकुर के पूछने पर नरेन्द्र ने बताया कि प्रतिदिन सोने के पूर्व भौंहों के बीच उन्हें प्रकाश का एक गोला दिखाई देता है । श्रीरामकृष्ण प्रसन्न होकर बोले – यह नरेन्द्र की अव्यक्त ब्रह्म का ध्यान करने की जन्मजात क्षमता का द्योतक है ।

स्वामी विवेकानन्द ने स्वयं भी वर्णन करते हुए बताया था – ''उसके बाद ही श्रीरामकृष्ण सहसा उठकर मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपने कमरे के उत्तर की ओर के बरामदे में खींच ले गये । जाड़े के दिन थे । उत्तरी हवा को रोकने के लिए बरामदे के खम्भों के बीच के भाग टट्टियों से घिरे हुए थे । अत: वहाँ भीतर जाकर कमरे का द्वार बन्द कर लेने से कमरे के भीतर या बाहर के किसी व्यक्ति को देखा नहीं जा सकता था । बरामदे में प्रविष्ट होकर श्रीरामकृष्ण के द्वार बन्द कर देने पर मैंने सोचा – सम्भवत: एकान्त में मुझे कुछ उपदेश देंगे । पर उन्होंने जो कुछ कहा और किया, वह कल्पनातीत था । उन्होंने सहसा मेरा हाथ पकड़ लिया, उनके नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी और पूर्वपरिचित की भाँति परम स्नेहपूर्वक मुझे सम्बोधित करते हुए वे कहने लगे, 'तू इतने दिनों बाद आया? मैं तेरे लिए किस प्रकार प्रतीक्षा कर रहा था, तू सोच भी नहीं सकता? विषयी लोगों के व्यर्थ के प्रसंग सुनते-सुनते मेरे कान जले जा रहे हैं, मन की बात किसी से न कह सकने के कारण मेरा पेट फूलता जा रहा है !' – आदि आदि कितनी ही बातें वे कहने लगे और रोने लगे । अगले ही क्षण वे मेरे सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गये और देवता की तरह मेरे प्रति सम्मान दिखाते हुए कहने लगे, 'मैं जानता हूँ प्रभो, आप वही पुरातन ऋषि – नररूपी नारायण[१९] हैं, जीवों की दुर्गति दूर करने हेतु आप पुन: संसार में अवतीर्ण हुए हैं !' ''[२०]

''मैं तो उनके इस प्रकार के आचरण से एकदम अवाक् और अचम्भित रह गया । मन-ही-मन सोचने लगा – यह मैं किसे देखने चला आया ! ये तो पूर्णत: उन्मादी हैं – कहाँ तो मैं विश्वनाथ दत्त का पुत्र हूँ और मुझसे ऐसी बातें ! जो हो, मैं चुप रह गया । वे अपूर्व पागल जो मन में आया, कहते चले गये । थोड़ी देर बाद मुझे वहीं ठहरने को कहकर वे कमरे में गये और मक्खन, मिश्री तथा कुछ मिठाइयाँ लाकर मुझे अपने हाथ से खिलाने लगे । मैं बोला, 'मिठाइयाँ मुझे दे दीजिए, साथियों के साथ खाऊँगा ।' पर वे बिल्कुल नहीं माने, कहने लगे – 'वे लोग भी खाएँगे, तू तो खा ले ।' इतना कहकर उन्होंने मुझे सब कुछ खिलाकर ही छोड़ा, इसके बाद वे मेरा हाथ पकड़कर बोले,

---

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध – ये पाँच विषय और क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर – ये पाँच भूत कोई भी तेरे अपने नहीं हैं, सभी पराये हैं । पराये प्रेम से अचेतन होकर क्यों तुम अपने जन को भूल रहे हो? हे मन, सत्य पथ पर आगे बढ़ो, प्रेम का दीपक जलाकर सदा उस पथ पर चलते जाओ, साथ में भक्तिरूप धन को बहुत यत्न से छिपाकर रख लो । लोभ, मोह आदि उस पथ के डाकू, पथिक का सब कुछ छीन लेते हैं । इसी कारण कहता हूँ – हे मन, शम (मन:संयम) और दम (बाह्य इन्द्रियों का दमन) इन दोनों को पहरेदार रखो । उस पथ में साधुसंग नामक धर्मशाला है, थक जाने पर वहाँ विश्राम लेना, पथ-भ्रम होने से उस धर्मशाले के निवासियों से रास्ता पूछ लेना । यदि पथ में भय की आकृति दिखाई पड़े, तो प्राणपण से राजा की दुहाई देना । उस पथ पर राजा का प्रबल प्रताप है, जिनके शासन से यमराज भी डरते हैं ।' (द्र. 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत', भाग २, पृ. १२४७) ।

'वचनामृत' के अनुसार नरेन्द्र ने स्वयं बताया था कि उन्होंने दो गाने गाये थे । दूसरा गाना बेचाराम चटर्जी का लिखा हुआ है, जिसका भावार्थ है – 'क्या मेरे दिन व्यर्थ ही बीत जाएँगे? हे नाथ, मैं दिन-रात आशा-पथ पर आँख गड़ाये हुए हूँ ।' कहाँ तो तुम तीनों लोकों के स्वामी हो और कहाँ मैं एक अनाथ भिखारी हूँ; कैसे कहूँ कि हे नाथ, आकर मेरे हृदय में विराज करो ! मैं अपनी हृदय-रूपी कुटिया का द्वार सदा खोले रखता हूँ । क्या आप एक बार उसमें पधार कर मेरे हृदय को शीतल करने की कृपा करेंगे !'

१७. 'लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ७९६; **१८.** 'दि लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द' में यह घटना श्रीरामकृष्ण द्वारा नरेन्द्र को मिठाई आदि खिलाने के बाद की बतायी गयी है । हमने यहाँ यह प्रसंग स्वामी शुद्धानन्द की डायरी के आधार पर लिया है ।

'तत्वमंजरी' में मनोमोहन मित्र कहते हैं कि नरेन्द्र ने एकमात्र यह भजन गाया – (भावार्थ) ''उसी एक निरंजन पुरातन पुरुष में तू अपने चित्त को लगा दे । वे आदि-सत्य हैं, वे कारण (माया) के भी कारण हैं; प्राणरूप से चराचर में व्याप्त हैं । वे स्वयंप्रकाश एवं ज्योतिर्मय हैं । सबके आश्रय हैं । जिसका उन पर विश्वास होता है, वह उनके दर्शन करता है । वे अतीन्द्रिय भूमि में रहते हैं, नित्य चैतन्यस्वरूप हैं ।'' परन्तु 'वचनामृत' (भाग १, पृ. ५८५) से इस बात की पुष्टि होती है कि नरेन्द्र ने उपर्युक्त गीत गाया था ।

१९. नरेन्द्र के तीसरी बार दक्षिणेश्वर आने पर श्रीरामकृष्ण ने भावसमाधि में डूबकर नरेन्द्र का स्पर्श किया, जिससे उनकी बाह्य चेतना लुप्त हो गयी । श्रीरामकृष्ण ने बताया था, ''बाह्य ज्ञान का लोप हो जाने पर उस दिन मैंने नरेन्द्र से कई प्रश्न किये थे – वह कौन है, कहाँ से आया है, क्यों जन्मा है, कितने दिनों तक इस संसार में रहेगा, आदि आदि । उसने भी उस अवस्था में अपने अन्तर में प्रविष्ट होकर सब प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर दिये थे । उसके बारे में पहले मैंने जो कुछ देखा और सोचा था, उसके उस दिन के उत्तरों ने वही प्रमाणित कर दिया । उन सब बातों को बताने का निषेध है ।'' (श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ. ८१५)

२०. रोमाँ रोलाँ ने ठीक ही लिखा है कि ''नरेन्द्र के प्रति कहे कुछ प्रारम्भिक शब्दों में ही श्रीरामकृष्ण ने 'उनके लिये उस समाज-सेवा का निरूपण कर दिया, जिसके लिए विवेकानन्द अपना जीवन उत्सर्ग करने वाले थे ।'' ('द लाइफ ऑफ रामकृष्ण', पृ. २५० का फुटनोट) । 'वचनामृत', भाग २, पृ. १२४७ के अनुसार नरेन्द्र की दूसरी दक्षिणेश्वर-यात्रा (तीसरी भेंट) के समय श्रीरामकृष्ण ने उनकी ईश्वर के रूप में स्तुति करते हुए कहा था, 'नारायण ! तुम मेरे लिए शरीर धारण करके आये हो ।'

'बोल, तू जल्दी ही एक दिन मेरे पास अकेला आएगा न?' उनके उस आग्रहपूर्ण अनुरोध को टाल न सकने के कारण लाचार होकर मैंने – 'आऊँगा' कह दिया और उनके साथ-साथ कमरे में आकर अपने साथियों के साथ बैठ गया।''[२१]

नरेन्द्र चुपचाप बैठकर उनकी ओर ताकने लगे, परन्तु उन्हें उनकी चाल-ढाल, बातचीत और दूसरों से व्यवहार में उन्माद के कोई लक्षण नहीं दिखे। उनकी सच्चर्चा और भावसमाधि देखकर उन्हें लगा कि ये सचमुच ही ईश्वरार्थ सर्वत्यागी हैं और जो कहते हैं, उसका स्वयं आचरण भी करते हैं। वे त्याग के विषय में बड़ी सुन्दर बातें कह रहे थे।

सहसा नरेन्द्र के मन में आया – ''क्या ये व्यक्ति महान् आचार्य हो सकते हैं?'' वे श्रीरामकृष्ण के पास खिसक आये और अपना वही चुनौती-भरा प्रश्न उनके सामने रखा, जिसे वे इसके पहले भी कई धार्मिक नेताओं से पूछ चुके थे।

''महाशय? क्या आप ईश्वर पर विश्वास करते हैं?''

''हाँ।''

''महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है?''

''हाँ, अभी तुम लोगों को जैसे देख रहा हूँ, वैसे ही उन्हें भी देखता हूँ, पर इससे कहीं अधिक सघन रूप से। यदि तुम चाहो, तो तुम भी देख सकते हो!''[२२]

श्रीरामकृष्ण ने आगे कहा, ''तुम लोगों को जैसे देख रहा हूँ, तुम लोगों से जैसे बातचीत कर रहा हूँ, वैसे ही ईश्वर को भी देखा जाता है और उनसे बातें की जा सकती हैं, पर वैसा चाहता कौन है? लोग स्त्री-पुत्र के शोक में घड़ों आँसू बहाते हैं, धन और सम्पदा के लिए तरसते रहते हैं, पर ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ – यह कहकर भला कौन रोता है? उन्हें मैं नहीं पा सका – ऐसा कहकर यदि कोई व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है, तो वे अवश्य ही दर्शन देते हैं।''[२३]

नरेन्द्र को लगा मानो श्रीरामकृष्ण अपनी दिव्य अनुभूतियों के आधार पर दैवी प्रेरणा से बोल रहे हों। उस घटना का प्रभाव उन पर कैसा पड़ा था, इसे उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''इस उत्तर ने मेरे मन को तत्काल बड़ा प्रभावित किया, क्योंकि जीवन में मुझे प्रथम बार ही एक ऐसा व्यक्ति मिला, जिसने तुरन्त कह दिया कि मैंने ईश्वर को देखा है तथा जिसने यह भी बताया कि धर्म एक वास्तविक सत्य है; और जिस प्रकार हम विश्व का अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, उससे कहीं अधिक ठोस रूप में उसका अनुभव किया जा सकता है।''[२४]

२१. 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भा. ३, पृ. ५४; **२२.** स्वामी विवेकानन्द का व्याख्यान 'मेरे गुरुदेव' ('विवेकानन्द साहित्य', खण्ड ७, पृ. २३५)। इस संवाद के अन्तिम अंश गुरुदास बर्मन (पृ. २१२) से लिये गये हैं। **२३.** 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. पृ. ७९७; **२४.** 'विवेकानन्द साहित्य', भा. ७, पृ. २६०

इसके बावजूद नरेन्द्र अपने नेत्रों के समक्ष बैठे इन अनाडम्बर, सरल तथा शान्तचित्त व्यक्ति के चित्र का उसके उस विचित्र व्यवहार से कोई तालमेल नहीं बिठा पा रहे थे, जो उन्होंने अभी -अभी देखा था। वे इस निर्णय पर पहुँचने को बाध्य-से हो रहे थे कि श्रीरामकृष्ण एक सनकी व्यक्ति हैं और उन्हें ऐसा भी लगा कि इस वृद्ध ने उन्हें सम्मोहित कर दिया होगा। तथापि उन्होंने मन-ही-मन सोचा, ''ये पागल तो हो सकते हैं, पर इनके जैसा त्याग तो किसी बिरले भाग्यवान में ही हो सकता है। यदि यह व्यक्ति पागल भी हो, तथापि यह पवित्रों में भी पवित्र है, यथार्थ सन्त है और मात्र इस बात के लिए भी वह मनुष्यों में पूजे जाने के योग्य है।'' इस प्रकार के परस्पर-विरोधी विचारों में उलझे हुए ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण के सामने नतमस्तक होकर उनसे कलकत्ते लौटने की अनुमति माँगी। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें पकड़ कर स्नेहपूर्वक पूछा, ''फिर आना, आओगे न? तुमसे मिलने के लिये मैं बड़ा उत्सुक हूँ। क्यों, फिर आओगे न?'' नरेन्द्र यह इतना कहने से स्वयं को रोक नहीं सके, ''प्रयास करूँगा।''

नरेन्द्र के व्यक्तित्व का मूल्यांकन श्रीरामकृष्ण ने पहले ही कर लिया था। बाद में उन्होंने नरेन्द्र को 'नित्यसिद्ध', 'ईश्वर-कोटि' आदि बताया। अपनी अनूठी शैली में उन्होंने नरेन्द्र को सहस्रदल पद्म कहा। ''दूसरे लोग लोटा-गिलास हैं। नरेन्द्र एक बड़ा हण्डा है। मछलियों में मानो वह लाल आँखोंवाली विशाल रोहू मछली के समान है और दूसरे लोग विभिन्न प्रकार की छोटी मछलियाँ।... वह उस प्रकार के कबूतर के समान है, जो चोंच पकड़ने पर जोर लगाकर छूट जाता है।... किसी भीड़ में उसके साथ रहने से मुझमें बहुत साहस बना रहता है।'' श्रीरामकृष्ण कभी भी नरेन्द्र की प्रतिभा की उच्चता और उसके उज्ज्वल भविष्य की ओर इंगित करने में नहीं थकते थे। वे स्वयं लौकिक तथा आध्यात्मिक साधनों से अपने शिष्य की परीक्षा लिया करते और कहते, ''तुम लोग उसी प्रकार मेरी जाँच करो, जैसे साहूकार रुपयों को ठोक-बजाकर लेते हैं। अच्छी तरह परीक्षा किये बिना मुझे स्वीकार मत करना।'' चूँकि श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र में 'भविष्य का महान् व्यक्ति' देखा था, इसलिए अपने शिष्यों में उन्हें सर्वोच्च स्थान दिया था।[२५] उन्होंने सबके सामने उस समय के विश्वविख्यात केशव चन्द्र सेन की प्रसिद्धि को नरेन्द्र की भावी प्रसिद्धि के सामने कम बतलाया था। नरेन्द्र तो तब तक कुछ भी नहीं थे। पर नरेन्द्र यह सब सुनकर फूलकर कुप्पे नहीं हुए, बल्कि उसे परमहंस की अतिशयोक्ति ही माना।

घर लौटकर नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण के बारे में कोई निश्चित धारणा नहीं बना सके। उनकी दार्शनिक तथा वैज्ञानिक शिक्षा को जबरदस्त झटका लगा था। करीब माह भर बाद हुई अपनी दूसरी यात्रा के समय नरेन्द्र ने निश्चय किया था कि वे 'उस विचित्र व्यक्ति

२५. स्वामी रामकृष्णानन्द : 'श्रीरामकृष्ण ऐण्ड हिज मिशन', रामकृष्ण मठ, मद्रास, १९५५, पृ. ४६

की सच्चाई तथा शक्ति' का आकलन करेंगे। पर जब श्रीरामकृष्ण ने उनके करीब आते हुए अर्ध-बाह्यावस्था में अपना दाहिना पैर उनके शरीर से छुआया तो एक प्रबल आध्यात्मिक अनुभव की लहर ने नरेन्द्र को बहा दिया। नरेन्द्र ने आँखें खोलकर देखा कि घर की दीवालों के साथ सारी चीजें घूमती हुई कहीं विलीन होती जा रही हैं और सारे ब्रह्माण्ड के साथ उनका क्षुद्र 'अहं'-भाव सर्वव्यापक महाशून्य में विलीन होता जा रहा है।[२६] वे भय से घबड़ाकर चिल्ला उठे। श्रीरामकृष्ण खिलखिलाकर हँस पड़े और नरेन्द्र की छाती का स्पर्श करते हुए उन्हें सहजावस्था में लौटा लाये। घर लौटते समय नरेन्द्र विचार कर रहे थे, 'इच्छामात्र से यह पुरुष यदि मेरे जैसे प्रबल इच्छाशक्तिसम्पन्न चित्त के दृढ़ संस्कारयुक्त गठन को इस तरह तोड़-फोड़कर मिट्टी के लोंदे की तरह अपने भाव में डाल सकते हैं, तो इन्हें पागल ही कैसे समझूँ?' अगली बार उन्होंने खूब सावधान रहने का निश्चय किया।

पर तीसरी यात्रा के समय भी नरेन्द्र कुछ बेहतर नहीं कर पाये। उस दिन श्रीरामकृष्णदेव नरेन्द्रनाथ के साथ यदुनाथ मल्लिक के पासवाले बगीचे में थोड़ी देर टहलने के उपरान्त वहाँ के बैठकखाने में आकर बैठे और थोड़ी देर में समाधिस्थ हो गये। इतने में सहसा श्रीरामकृष्ण ने पूर्व दिन की तरह बढ़कर उनका स्पर्श किया। नरेन्द्रनाथ पहले से सावधान रहने पर भी उस शक्तिपूर्ण स्पर्श से पूर्णत: अभिभूत हो गये। उनका बाह्यज्ञान एकदम लुप्त हो गया। श्रीरामकृष्ण ने तब नरेन्द्र से कई प्रश्न किये – वह कौन है, कहाँ से आया है, क्यों आया है और कितने दिनों तक यहाँ पृथ्वी पर रहेगा। इस घटना के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने बाद में कहा था, "उसने भी उस अवस्था में अपने अन्तर में प्रविष्ट होकर सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दिया था। उसके सम्बन्ध में पहले मैंने जो कुछ देखा और सोचा था, उसके उस दिन के उत्तरों ने वही प्रमाणित कर दिया।"[२७] वे यह भी जान गये कि नरेन्द्र एक ध्यानसिद्ध महापुरुष है और जिस दिन वह जान जाएगा कि वह कौन है, उस दिन वह इस लोक में नहीं रहेगा। दृढ़ संकल्प की सहायता से समाधियोग द्वारा वह तत्काल देह छोड़कर चला जाएगा। इस अपूर्व अनुभव का प्रभाव करीब एक महीने तक नरेन्द्र के ऊपर नशे-जैसा छाया रहा।

नरेन्द्र जिस अदम्य आकर्षण से ठाकुर की ओर खिंच गये थे, वह वस्तुत: उनका असीम प्रेम था। बाद में नरेन्द्र ने स्वीकार किया था कि श्रीरामकृष्ण ने उन्हें अपने प्रेम से बाँध लिया था। दूसरों के प्रति उनके गहरे प्रेम तथा दूसरों की भलाई की उत्कट भावना के कारण उनके कार्य में विशिष्टता दिखाई देती थी और नरेन्द्र को तो वे मूर्तिमान प्रेम प्रतीत होते। उनके देहत्याग के बाद नरेन्द्र ने लिखा था, "श्रीरामकृष्ण की बराबरी का दूसरा कोई नहीं। वैसी अपूर्व सिद्धि, वैसी अपूर्व अकारण दया, जन्म-मरण से जकड़े हुए जीव के लिए वैसी प्रगाढ़ सहानुभूति इस संसार में भला और कहाँ है?"[२८]

नरेन्द्र को देखते ही श्रीरामकृष्ण कभी-कभी इतने आनन्दित हो उठते कि 'वह जो है न –' कहते हुए समाधिमग्न हो जाते। श्रीरामकृष्ण अपने हाथों से उसे खिलाते। श्रीरामकृष्ण प्रेमपूर्वक उन्हें 'शुकदेव' कहकर पुकारते।[२९] अपनी आध्यात्मिक सम्पदा को यथाशीघ्र अपने उत्तराधिकारी को प्रदान करने के उत्सुक श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को कई प्रकार से शिक्षा दी थी और उन्हें कई गहन आध्यात्मिक अनुभूतियाँ करायी थीं।

तथापि इन सब आश्वस्त करनेवाले अनुभवों, श्रीरामकृष्ण की अदम्य शक्ति की अभिव्यक्तियों तथा उनके अथाह प्रेम के बावजूद उन्हें विश्वगुरु के रूप में स्वीकार करने में नरेन्द्र को बड़ी कठिनाई हुई। उन्होंने अपनी विचार-शक्ति को पल भर के लिये भी नहीं छोड़ा। विवेक की कसौटी पर जाँचे बिना वे किसी बात को स्वीकार नहीं करते थे। ठाकुर के पूछने पर नरेन्द्र बेझिझक कह देते, "हजारों लोग आपको अवतार के रूप में देखें, पर मैं जब तक स्वयं इस विषय में आश्वस्त नहीं हो जाऊँगा, तब तक नहीं मानूँगा।" श्रीरामकृष्ण इस पर जरा भी नाराज नहीं होते, क्योंकि वे जानते थे कि अन्त में सत्य की ही विजय होगी।

एक अविश्वासी जैसे दिखाई देनेवाले युवक नरेन्द्रनाथ का श्रीरामकृष्ण के अवतारत्व में प्रबल विश्वासी बन जाना और विश्व में अपने गुरु के प्रमुख सन्देशवाहक में रूपान्तरित होना उनके जीवनी-लेखकों की दृष्टि में एक ऐसी रहस्य-भरी गाथा है, जो स्वामीजी के जीवन की गहराइयों में छिपी हुई है। नि:सन्देह इसमें भीषण संघर्ष तथा अनेक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ समाहित हैं। इस रूपान्तरण का जो फल निकला, वह विश्व के लिए एक नया आलोक या एक नये युग का स्वर्णिम विहान था। श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द इन दोनों के जीवन और सन्देश परस्पर इतने घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं कि भगिनी निवेदिता ने अपने 'The Master as I saw Him' ग्रन्थ में लिखा है, "हाल ही में पिछली पीढ़ी के एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि 'विवेकानन्द के निर्माण हेतु ही श्रीरामकृष्ण ने जीवन-धारण किया था।' क्या सचमुच ही ऐसा है? या फिर जैसे जगदम्बा के मातृ-हृदय की एक अखण्ड महती उक्ति के एक अंश को दूसरे अंश से दूसरे अंश को निश्चयपूर्वक अलग करके देखना जैसे असम्भव है, वैसे ही इन दोनों महा-जीवनों को भी अलग करके देखना क्या असम्भव नहीं है? इन जीवनों का सम्यक् रूप से अध्ययन करते समय बहुधा मुझे लगता है कि हमारे बीच 'रामकृष्ण-विवेकानन्द' नाम की एक आत्मा आविर्भूत हुई थी; और उन्हीं के जीवनालोक में अनेक मूर्तियाँ प्रगट हुईं, जिनमें से कुछ आज भी हमारे बीच विद्यमान हैं। सभी के एक साथ जुड़े हुए कर्मक्षेत्र में – इनमें से किसी के भी विषय में पूर्ण सत्यता के साथ नहीं कहा जा सकता कि यहाँ से अन्य सभी का कर्मक्षेत्र समाप्त होता है, या फिर यहाँ से उनका अपना कर्मक्षेत्र शुरू होता है।"[२९]

(फुटनोट पृष्ठ २८२ पर)

सारगाछी की स्मृतियाँ (८)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

२६-३-१९५९

पूजनीय प्रेमेश महाराज ने सेवक से कहा – इसको समझ कर पक्का कर लो तो –

१. श्रीरामकृष्ण मेरे कौन हैं? (ज्ञान)

२. उनके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध। (योग)

३. उन पर प्रेम-आकर्षण का होना। (भक्ति)

४. उनकी प्रसन्नता हेतु कार्य (कर्म)

शरीर जिस दिन खराब रहता है, उस दिन सारा जगत् दुःखमय लगता है। वह जिस दिन अच्छा रहता है, उस दिन सब कुछ अच्छा लगता है। अर्थात् यंत्र (मिडीयम) ठीक रहने से अच्छा लगता है। शरीर यन्त्र (मिडीयम) है, मैं द्रष्टा हूँ। शरीर यंत्र है। जो देखता हूँ, अनुभव करता हूँ, सब यान्त्रिक क्रियायें (मेकेनिकल प्रोसेस) हैं।

४-४-१९५९

(सेवक को गीता पढ़ते हुए देखकर) महाराज – किसी के गीता पढ़ने से मैं आह्लादित हो जाता हूँ। क्योंकि गीता में मानव-विज्ञान की बातें हैं। कोई भी सभ्य समाज गीता से प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। गीता में मानव-जीवन की बातें ही हैं। इस पुस्तक को सबको पढ़ना आवश्यक है। किसी भी सम्प्रदाय के व्यक्ति गीता को पढ़ने में संकोच नहीं करेंगे।

६-४-१९५९

महाराज अधिकांश समय चुप ही रहते हैं। बीच-बीच में कहते हैं – ये पेड़-पौधे, पशु-पक्षी जीव-जन्तु, मनुष्य एक-एक को देख रहा हूँ और हृदय काँप उठता है। इन लोगों को कई जन्मों तक इस संसार में आना होगा, किन्तु ये सभी मजे में हैं। जितने प्रकार के जीव, पेड़-पौधे, देख रहा हूँ, बाहर से ये सब प्राणी हैं। किन्तु सभी चैतन्य के एक-एक कण हैं। वही चैतन्य अपने शरीर में एक-एक शरीर लपेटकर एक-एक रूपों के भीतर से झाँक रहा है।

११-४-१९५९

सेवक – मुक्ति-प्राप्ति क्या है?

महाराज – मुक्ति है ही, इसे पाया नहीं जाता है। जो पाया जाता है, वह फिर से खो जाता है, इसलिये मुक्ति है ही। रामकृष्ण लोक भूः, भूवः, स्वः, महः, जन, तप और सत्य के ऊपर है। वहाँ चैतन्यमय अवस्था है। चिन्मय श्याम ! चिन्मय धाम !

महाराज जी के शरीर की स्थिति बहुत ही खराब है। एक लड़का आया है। अभी माध्यमिक (इंटर) परीक्षा दिया है, इसलिए आया है। वह संघ में सम्मिलित होगा। महाराज ने उसे अनेकों प्रकार के उपदेश दिया। उन्होंने विशेष रूप से ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग के समन्वय की बातें बतायीं।

शाम को रास्ते के किनारे टहलते-टहलते महाराज ने खेत जोतते हुये एक किसान को दिखाकर कहा – क्या तुमने हमलोगों में कोई भिन्नता देखा है? मुझमें और उस किसान में बिन्दु मात्र भी भेद नहीं है। मैं बौद्धिक रूप से जानता हूँ कि मैं देह-मन का साक्षी हूँ। किन्तु वह किसान नहीं जानता है। मुझे अपना पथ ज्ञात है और मेरे हाथ में मार्गदर्शिका पुस्तक (गाइड बुक) है। किन्तु हो सकता है कि वह एक पंडा-पुरोहित को पकड़कर मुझसे पहले ही पहुँच जाएगा। इसलिये कहता हूँ, आत्म-चिन्तन या इष्ट-चिन्तन करना होगा। परोपकार करना या सम्मान पाना उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य है मुक्ति। स्वयं को देह-मन-बुद्धि के परे ले जाना है। देखा जाता है कि जो जितना ईश्वर प्रणिधान करता है, वह उतना अच्छा साधु होता है। सर्वदा ध्यान रखना कि मन में अन्य कोई खराब विचार न आने पाये। सदा एक ही चिन्तन करना – मैं देह, मन और प्राण का द्रष्टा हूँ। यदि ऐसा चिन्तन न हो सके, तो ठाकुर की लीला का चिन्तन अथवा चैतन्यदेव के जीवन का चिन्तन करना। भक्तों के परिश्रम से अर्जित धन से हमलोगों की सेवा होती है। सोच-समझकर खर्च करना चाहिये, व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये।

२१-४-१९५९

महाराज – देखो, जितना ही चारों ओर देख रहा हूँ, उतना ही समझ रहा हूँ कि क्यों स्वामीजी ने चारों योगों के समन्वय की बात कही है। ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग – चारों एक हैं। ज्ञान के द्वारा जाना कि ईश्वर क्या है? मान लो, ऊपर का घर ईश्वर है। हमें ऊपर जाना होगा। कैसे जाऊँगा? सीढ़ी के द्वारा जाऊँगा, तो सीढ़ी योग है। ईश्वर पर प्रेम-आकर्षण नहीं होने से क्या वहाँ जाना सम्भव है? इसलिये

भक्ति चाहिये। भक्ति से ईश्वर के पास जाने के लिये प्रेम-आकर्षण का अनुभव करूँगा एवं उनके पास जाने के लिए जितने प्रयास हैं, सभी कर्म हैं। एक श्लोक है –

अन्तः शैव वहिः शाक्तः सभयां वैष्णवो भव।
नानारूपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले।।

श्रीरामकृष्ण के भक्तगण ऐसे ही होंगे – अन्दर ज्ञान, बाहर शाक्त की तरह तेजस्वी, समाज में वैष्णव की तरह विनम्र, शान्त मृदुभाषी, सुव्यवहारिक और पवित्र चरित्र।

सेवक – श्रीरामकृष्ण-कथामृत के पंचम भाग में मास्टर महाशय की बहुत सी रचनायें हैं। इसका उद्देश्य क्या है?

महाराज – कथामृत ठाकुर जी का है, किन्तु उसके पाँचवें भाग में 'श्री म' ने अपनी रचनायें सम्मिलित की हैं। उनकी धारणा है कि ईश्वर-प्राप्ति न करके कर्म करना उचित नहीं है। किन्तु, वह उच्च आधार की बातें हैं। हमलोगों का निम्न आधार है। हमलोग कर्म करते-करते ईश्वर के प्रति प्रेम-आकर्षण का अनुभव करते हैं।

सेवक – त्यागी और संन्यासी में क्या अन्तर है?

महाराज – त्यागी मन्टू के पिताजी ने संसार के सभी कर्तव्य – श्राद्ध, तर्पन, यज्ञ आदि – अनासक्त होकर किये हैं। अतः मृत्यु के समय उनमें ईश्वर-दर्शन का लक्षण देखा गया। मैं संन्यासी हूँ, मेरा कोई भी कर्तव्य-कर्म नहीं है।

२७-४-१९५९

एक अविवाहित सज्जन एक कार्यालय में काम करते थे। उस समय लिफाफा, पोस्टकार्ड प्राप्त करने में बहुत समय लगता था। सबका उपकार होगा, इसलिये वे २० रूपये का लिफाफा, पोस्टकार्ड आदि खरीद कर एक पेटी में रख देते थे। लोग अपनी आवश्यकतानुसार पेटी में मूल्य रखकर लिफाफा, पोस्ट-कार्ड ले जाते थे। उनसे एक दिन पूछा गया – क्या आप को सही-सही पैसा वापस मिलता है? उन्होंने हँसते हुए कहा – "ऐसा होता है क्या?" क्या आपके मन में दुःख नहीं होता है?" उन्होंने कहा – क्यों, दुःख होगा? मैं तो सोच ही लेता हूँ कि कुछ भी नहीं मिलेगा। इसलिये जो मिलता है, उसी में ही लाभ है।" उनकी नौकरी में एक प्रस्ताव (ऑफर) आया है कि एक समय का रूपया लेना है या महिना-महिना पेंशन लेना है। उन्होंने प्रेमेश महाराज से पूछा – महाराज ने कहा – तुम सीधे, सरल व्यक्ति हो। सभी मिलकर तुम्हें ठगकर तुम्हारे रूपये ले लेंगे। रूपये के लालच में तुम्हारे चारों ओर कुछ लोग एकत्रित होकर तुम्हारा समय बर्बाद करेंगे। (इसलिये) तुम पेंशन लेना एवं सूर्योदय-सूर्यास्त जप का अभ्यास करना। बाद में महाराज जी से सुना कि वे सज्जन प्रति रविवार सूर्योदय से सूर्यास्त तक एक आसन में बैठकर जप करते हैं एवं विशेष प्रत्यवाय – विघ्न नहीं होने से महाराज जी के आदेश का निष्ठा से पालन करते हैं।

महाराज – वह कहता है कि उसे अपरोक्षानुभूति हुई है, किन्तु मैं स्वीकार नहीं कर रहा हूँ। असली बात है, पिता से लन्दन की कहानी सुन-सुन कर ऐसा लगता है कि मानो मैं लंदन घुमकर आ गया हूँ। ठीक वैसे ही, शास्त्र-विचार करते-करते मैं किसी भी साधक को समझा सकता हूँ कि आत्मज्ञान क्या है? चैतन्य क्या है? चैतन्य – ये सभी जीव जो 'मैं मैं' कर रहे हैं, वही तो चैतन्य है। जब ब्रह्मज्ञान होता है, तब सभी कोश एक के बाद एक खुलते जाते हैं – जैसे – हजार वर्षों के अन्धकार में अचानक प्रकाश जल जाता है। वह व्यक्ति स्पष्ट रूप से देखता है – मैं इस देह, प्राण, मन एवं बुद्धि से पृथक पृथक हूँ।

१-५-१९५९

प्रायः बहरमपुर से डॉक्टर चौधुरी आकर महाराज जी को देखकर जाते हैं।

डॉक्टर – महाराज, आप लोगों की बात अलग है। आप लोग बहुत ऊँचे स्तर पर हैं।

महाराज – भोग का अन्त नहीं होने से नहीं होनेवाला है।

डॉक्टर – तब तो, आपके भोग का अन्त हुआ था। किन्तु घर में ऐसे अधपका चीज खाकर कैसे हुआ?

महाराज – नहीं हुआ तो, मैं तो जेल (कारागार) में था। १७ साल की अवधि थी। अकस्मात् पंचम जज इस देश में आये। सभी को जेल से मुक्ति दी गयी। वैसे ही तभी अचानक 'माँ' आ गयीं और सुविधा हो गयी। १७ साल जेल में नहीं रहना पड़ा। हमलोग तो आर्तभक्त हैं।

१३-५-१९५९

महाराज – जो लोग ईश्वर की ओर सम्पूर्ण मन नहीं दे पा रहे हैं, किन्तु संसार में भी कुछ अच्छा नहीं लगता है, वे लोग सत्वगुणी हैं।

व्यक्ति हजार सुन्दर ही क्यों न हो, किन्तु बिना कूदे – बिना पुरूषार्थ के कुछ भी नहीं होने वाला है। स्कूल के लड़को को देखता हूँ और सोचता हूँ, सभी कितने सुन्दर हैं! किन्तु कूदने-पुरुषार्थ के अभाव में सब मिट्टी हो जायेगा।

संसार में केवल एक व्यक्ति स्वनिर्मित हैं – वे हैं श्रीरामकृष्ण परमहंस देव और अन्य सभी को अपने को बनाना पड़ा है।

यदि स्वामीजी ठाकुर जी के सम्पर्क में नहीं आते, तो हो सकता है कि वे समाज में एक महान व्यक्ति बन जाते।

असली बात है, जीवन को प्रस्फुटित, मुखरित होना चाहिये। साधु सजकर आलस्य-प्रमाद में पड़े रहने की अपेक्षा विवाह करके जीवन के प्रस्फुटित हो जाने से, शायद दो-चार जन्म में ही मुक्ति हो सकती है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

प्रेरक कथाएँ

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा चार पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा', 'काठियावाड़ की कथाएँ' तथा महाभारत की कुछ कथाओं का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं । प्रथम तीन का नागपुर मठ से ग्रन्थाकार प्रकाशन भी हो चुका है । उनके 'भक्तितत्त्व' ग्रन्थ से कुछ रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का सम्पादित रूप क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

७. असीसी के सन्त फ्रान्सिस

इन आदर्श ईसाई सन्त का जन्म लगभग ११८१ ई. में हुआ था। कहते हैं कि तरुणाई तथा युवावस्था में उनका स्वभाव बड़ा ही उद्धत तथा विलासप्रिय था। खाना-पीना और मौज-मजे करना ही उनके जीवन का आदर्श था। युवा फ्रान्सिस रंगारंग में मस्त होकर जीवन बिता रहा था।

इसी बीच एक बार उसे जोरों का बुखार आया। बुखार ने थोड़े ही समय में ऐसा गम्भीर रूप धारण किया कि सबने उनके बचने की आशा छोड़ दी। ऐसी दशा में उनकी बुद्धि में एक विचित्र परिवर्तन आया। उन्हें अपने पहले के यथेच्छाचार युक्त जीवन पर सच्चे हृदय से पश्चाताप हुआ और उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि यदि इस बीमारी से ठीक हो जाऊँ, तो शुद्ध सात्त्विक जीवन बिताना शुरू कर दूँगा।

उन्होंने इस बीमारी को प्रभु की कृपा मानी, क्योंकि इससे उसका मन निर्मल हो गया था। विचार करने से उनको यह भी समझ में आया कि गरीबी भी सचमुच ईश्वर की दया की निशानी है, क्योंकि इसके कारण बहुत-से अनिष्टों से रक्षा हो जाती है। इसके साथ ही उन्होंने तप के द्वारा तन-मन को कसने का निश्चय भी किया।

इस भयंकर बीमारी से ठीक होने के बाद, उन्होंने इस संकल्प की पूर्ति के लिये तत्काल घर त्याग दिया। रास्ते में उन्हें भिक्षुकों की जमात मिली। उन्होंने अपने कीमती कपड़े-लत्ते उन्हीं को दे डाले और खुद उनके फटे-पुराने कपड़े पहन कर आगे बढ़े। वे खाने-पीने की ओर से बिल्कुल उदासीन रहने लगे, जिससे उनका शरीर एकदम सूख गया और उस पर मैल की तह जम गई। उसके मित्रों ने समझा कि बीमारी के कारण इसका सिर फिर गया है, सो उन लोगों ने उन्हें पकड़कर खूब पीटा और एक कमरे में बन्द कर दिया। पर इसका उन पर जरा भी असर नहीं हुआ। उन्होंने सबसे स्पष्ट कह दिया, "मुझे अब धन-सम्पत्ति की जरा भी इच्छा नहीं।" उन्होंने पुनः पहले के फटे-पुराने कपड़े पहन लिये और रोम की यात्रा पर चल पड़े। उनके अन्तर में ईश्वर-प्रेम की सच्ची ज्योति जगमगा उठी, जिससे दूसरे लोगों पर भी उनका असर हुआ, सैकड़ों लोग सर्वस्व त्याग कर उनके साथ यात्रा में शामिल हो गये। उसका विचार था कि रोम में जाकर पोप से मिलूँ और साधुओं का एक नया सम्प्रदाय बनाऊँ।

फ्रान्सिस और उसके अनुयायी पोप के महल के पास जा पहुँचे। उस समय पोप इन्नोसेण्ट तृतीय अपने बादशाही महल में आनन्द कर रहे थे। वे फ्रान्सिस की ऐसी विचित्र पोशाक, थकावट के कारण ऊँची चढ़ी हुई आँखें और सूखी लकड़ी की तरह शरीर देखकर मन-ही-मन खूब हँसे। कहाँ उसका राजशाही ठाठ और कहाँ यह भिखारी!

उन्होंने जो कुछ भी कहा, उसे पोप ने सुना, परन्तु पहले तो ठीक-ठीक जवाब ही नहीं दिया। परन्तु उसी रात को पोप को स्वप्न आया, जिसमें उन्होंने इस क्षीणकाय फ्रान्सिस को ईसाई धर्म के महान् प्रचार के रूप में देखा। दूसरे दिन पोप ने यथाशीघ्र फ्रान्सिस को बुलाकर उनका सम्मान किया और नये साधुओं के दल के संगठन के लिये अपनी पूरी सम्मति दे दी। इसके साथ ही उन्होंने एक आज्ञापत्र भी लिख दिया।

अब फ्रान्सिस पूरे उत्साह से अपने धर्मप्रचार के कार्य में लग गये। उसके उत्साह तथा धर्मशीलता से अनुप्राणित होकर हजारों लोग उसके टोली में शामिल हुए और उसके अनुयाई बने। सन्त फ्रान्सिस ने पूर्व की ओर भी भ्रमण किया था। वहाँ अरब लोगों के हाथ कैद होने से, उसकी अरबों के सुल्तान से भेंट हुई थी। सुलतान ने उसका बहुत आदर-संस्कार किया और उन्हें डेमियट्टा के ईसाई मठ में पहुँचाया।

माउंट अल्वर्नो नामक स्थान पर फ्रान्सिस के जीवन की अद्भुतता सबके देखने में आई। वहाँ स्वर्ग के प्रधान फरिश्ते माइकेल की स्मृति में उपवास चल रहे थे। उस समय छह पंखों वाला एक दिव्य पुरुष उनके देखने में आया और इन पंखों के बीच महात्मा ईसा मसीह सूली पर लटकते दिखाई दिए! वे इस दृश्य के अन्दर तल्लीन हो गये। थोड़े समय बाद जब धीरे-धीरे यह दृश्य जाने लगा, तब सबके देखने में आया कि फ्रान्सिस के हाथों-पैरों पर भी कीलें ठोकने के निशान थे और उनमें से खून बह रहा था। स्वयं पोप अलेकजेंडर चौथे तथा अन्य हजारों लोगों ने ये निशान देखे थे।

उनके धर्म का मूलमंत्र प्रेम था, जिसमें ईश्वर-प्रेम, मनुष्य जाति के प्रति प्रेम, पशु-पक्षियों के प्रति प्रेम – इन सबका समावेश हो जाता है। किसी ने उन्हें बकरी का एक बच्चा भेंट किया, जिसे उन्होंने बड़े ही प्रेम से पाला था। वे प्रार्थना में भी उसे अपने साथ लाते और वह बकरी का बच्चा भी प्रार्थना के समय सबके साथ अपने घुटने टेक देता!

फ्रान्सिस के अनुयाइयों की टोलियाँ सारे संसार में फैल गयीं। प्रोटेस्टेंट धर्म के प्रादुर्भाव के समय इंग्लैण्ड में ही उनके ६५ मठ थे।

१२२६ ई. चौथे अक्तूबर के दिन उनकी जीवन-लीला समाप्त हुई। मृत्यु का समय निकट आने पर उन्होंने अपना इलाज करनेवाले हकीम एरेजो से पूछा, "कहो हकीमजी, मेरी हालत कैसी है?" हकीम ने उत्तर दिया, "ईश्वर की कृपा से सब ठीक होगा।" फ्रान्सिस ने फिर पूछा, "सच कहो, तुमको क्या मालूम होता है? प्रभु कृपा से मैं तो मृत्यु से बिल्कुल मुक्त हो गया हूँ, अत: सच कहने में जरा भी मत अटको। भगवान के साथ मेरी ऐसी एकता हो गई है कि मुझे तो मरण में भी जीवन जितना ही आनन्द मिल रहा है।"

इस पर हकीम ने स्पष्ट कह दिया, "आपकी मृत्यु का समय आ पहुँचा है।" ये शब्द सुनकर पूर्ण श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक वह आँखें बन्दकर ध्यानमग्न हुए और थोड़ी देर में आनन्द तथा उमंग के साथ बोल उठे, "प्रिय मृत्यु ! चली आ, मैं तुझसे भेंट करने के लिए तैयार हूँ।"

८. महात्मा जरथुस्त्र

महात्मा जरथुस्त्र का जन्म ईरान के रए नामक शहर के राजवंशी कुटुम्ब में एक सद्गुणी, सदाचारी व्यक्ति पोडरूशस्प के घर में हुआ था। पारसी धर्मग्रंथ अवेस्ता की गाथा में लिखा है कि उस समय सर्वत्र अनाचार हो रहा था, पाप की प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो गई थी कि पृथ्वी माता ने गाय का रूप धारण करके ईश्वर के दरबार में पुकार की, "प्रभु ! इस त्रास से बचाओ, अब मैं पाप का भार सहन नहीं कर सकती।" पृथ्वी माता का करुण-क्रन्दन सुनकर भगवान ने महर्षि जरथुस्त्र को पृथ्वी पर भेजा।

इस बालक के जन्म से पहले ही ईरान के दुराचारी बादशाह तथा सरदारों को अशुभ शकुन होने लगे। इस कारण उन लोगों ने इनका नाश करने के लिए अनेक उपाय किये, पर सब निष्फल गये। गर्भस्थ शिशु में भी इतना तेज था कि माता के उदर में होने पर भी इनका स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता था। जन्म होते समय इनका मुख-मण्डल दिव्य तेज से जगमगाने लगा। पिता ने बालक का नाम स्वितम रखा। विरोधियों ने इनको दु:ख देने में कुछ कसर नहीं रखी। इनको आग में डाला, तो आग ठण्डी हो गई, बाघों के झुण्ड के बीच फेंका, तो बाघों के जबड़े ही नहीं खुले; इन पर घोड़े दौड़ाये, तो भी इनको जरा भी चोट न आई।

पन्द्रह वर्ष की उम्र में इन्होंने घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-सम्पत्ति आदि सबका त्यागकर पूरे पन्द्रह वर्ष तक तपश्चर्या की। इस समय के बीच में अहेरमन यानी कामादि शत्रुओं ने इन पर अनेक बार हमला किया, पर इन्होंने तो निश्चय किया हुआ था कि प्राण चला जाय या शरीर की हड्डियाँ चूर-चूर हो जायँ, तो भी ईश्वर की आराधना नहीं छोड़ेंगे। तपश्चर्या करके सिद्धि प्राप्त करने के बाद ये जरथुस्त्र कहलाये। जरथुस्त्र अर्थात् सुनहरी रोशनीवाला।

सम्पूर्ण ज्ञान तथा परम शान्ति प्राप्त करने के बाद अपना कर्तव्य पालन करने हेतु ये जंगल छोड़ जनसमूह के बीच में रहने लगे। इस समय इनकी उम्र लगभग तीस वर्ष थी। पूर्ण आस्था और श्रद्धा सहित इन्होंने जन-समाज को अपना सन्देश सुनाने का कार्य शुरू किया। इनके सन्देश का सार है, सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर की आराधना और मानव-सेवा।

जगत् ने पहले तो इनके इस सन्देश को स्वीकार करने में तत्परता नहीं दिखाई, पर बाद में बैक्ट्रिया के बादशाह वीश्तास्पे ने इनको मान देकर अपने यहाँ बुलाया और इनके उपदेशों को स्वीकार किया। दुष्टों की पराजय हुई। फिर पृथ्वी माता पर से पाप का बोझा कम हुआ और सर्वत्र शान्ति तथा सत्य का राज्य स्थापित हुआ।

महात्मा जरथुस्त्र के जन्म-काल के विषय में बड़ा मतभेद है। कोई कहता है कि ये ईसा के छह सौ वर्ष पहले हुए और कोई इनका जन्म इससे हजारों वर्ष पूर्व हुआ मानते हैं।

इनके उपदेश संक्षेप में इस प्रकार हैं – ईश्वर एक है, सर्वोपरि है, चराचर जगत् का स्वामी है, विश्व का नियन्ता है और सब तरह से सम्पूर्ण है। प्रत्येक जीव ऐसी सम्पूर्णता प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील है। इस प्रकार इन्होंने जगत् को षड्गुण-सम्पन्न ईश्वर की उपासना करने का सन्देश दिया है। ईश्वर को पहुँचने के तीन रास्ते हैं – ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग। जरथोस्ती धर्म में कर्ममार्ग पर विशेष जोर दिया गया है, क्योंकि ईरान की प्रजा स्वभाव से कर्मशील थी।

ये महात्मा कहते हैं, "ईश्वर ने हमको जो कुछ दिया है, वह बाँधकर रखने के लिए नहीं है, अपितु सद्व्यय करने के लिये दिया है। हमें कोने में स्थिर बँधे हुए तालाब की तरह नहीं होना चाहिए, अपितु बहती नदी जैसा होना चाहिए। यदि हम हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल या धर्म का दूसरों को दान करेंगे, तो उससे ये सब जरा भी घटेंगे नहीं, बल्कि उल्टे ये हजार-गुना बढ़ेंगे। ऐसे मनुष्यों को ईश्वर अधिकाधिक देता जाता है। ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों हमारे द्वारा मनुष्य-सेवा भी अधिक होती है।

जरथुस्ती धर्म का रहस्य – 'परोपकार' – इस एक शब्द में दिया जा सकता है। सच्चा जरथुस्ती अपने लिए कुछ भी नहीं माँगता; दूसरों के भले की ओर दृष्टि रखकर ही अपने सारे कार्य सम्पन्न करता है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (३०)
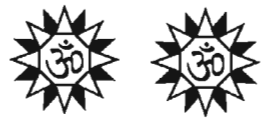
(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे। बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

१२. राढ़ीखाल (विक्रमपुर) में स्वामी प्रेमानन्द
असंयमी व्यक्ति फूटे घड़े के समान है

भगवान श्रीरामकृष्ण के जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में स्वामी प्रेमानन्द ढाका जिले के राढ़ीखाल ग्राम में आये हुए हैं। उनके साथ ब्रह्मचारी रासबिहारी महाराज, ब्र. हरिहर महाराज, ब्र. विमल महाराज तथा ब्र. चारु महाराज भी थे।

आज १८ बैशाख १३२२ (बंगाब्द) का दिन है। अपराह्न में उत्सव के स्थान पर स्वामी प्रेमानन्द की अध्यक्षता में एक जनसभा बुलाई गयी थी। एक मासिक पत्रिका के सम्पादक ने 'धर्म' के विषय में एक प्रबन्ध का पाठ किया। इसके बाद सभापति के रूप में बाबूराम महाराज ने जो कुछ कहा, उसका मर्म इस प्रकार है – "जो लोग धर्म की बातें सुनने को आते हैं, उनमें से कोई भी धर्म को ग्रहण नहीं कर सकता, इसका कारण यह है कि वे उपयुक्त पात्र नहीं हैं। जैसे फूटे घड़े में जल नहीं ले जाया जा सकता, वैसे ही असंयमी व्यक्ति धर्म को धारण नहीं कर सकता। अधिकांश लोग ही फूटे घड़े के जैसे हैं। उनके सभी नौ द्वार खुले हैं, जो घड़े के नौ छिद्र हैं। वे लोग जो कुछ सुनते हैं, सब उन छिद्रों से निकल जाता है।

"फिर धर्मलाभ की इच्छा से भी कितने लोग आते हैं? इस उत्सव में जो इतने लोग एकत्र हुए हैं, इनमें से अधिकांश मौज-मस्ती में ही मतवाले हैं। कितने लोग इस भाव से आये हैं कि उत्सव में जाकर धर्मलाभ करूँगा? (उपदेश) सभी लोग देना ही चाहते हैं, लेना कोई भी नहीं चाहता।

"जैसे श्रोता होते हैं, वैसे ही वक्ता भी होते हैं। संसारी लोग धर्मवक्ता बन बैठे हैं। जो लोग धन-सम्पत्ति और मान-यश में आकण्ठ डूबे हुए है, वे भला धर्म के उपदेशक कैसे हो सकते हैं? यहाँ लोग धर्म के विषय में अमुक-अमुक बाबू के आदर्श का उदाहरण देते हैं। संसारी लोगों का भी धर्म के विषय में आदर्श! ठाकुर और स्वामीजी दूर पड़े रह गये, उदाहरण हो गये अमुक-अमुक बाबू – जो कि काम-कांचन के कीट हैं, जो विषयों के दास हैं। विषयी लोगों के धर्मवक्ता होने से ही ऐसा अध:पतन हुआ है।

"इस सभा में आज वैष्णव धर्म के तत्त्व पर चर्चा हुई। वह तो बड़ी ऊँची बात है। उसे क्या आम जन समझ सकते हैं? जिनमें थोड़ी भी देहबुद्धि है, वे राधाकृष्ण-भाव नहीं समझ सकते। जो काम-कांचन के दास हैं, वे राधारानी का भाव भला कैसे समझेंगे? इतनी ऊँची बातों की हमें जरूरत नहीं है।

"संसारी व्यक्ति धर्म का नहीं, विषयों का उपदेशक होगा। दक्षिणेश्वर के उत्तर में सरकारी बारूदखाना है। ठाकुर के दिनों में वहाँ अनेक सिख सिपाही रहा करते थे। ठाकुर बीच-बीच में वहाँ जाकर उनके साथ धर्म की बातें करते थे। एक दिन नारायण शास्त्री भी उनके साथ थे। धर्मचर्चा चल रही थी, तभी बीच में शास्त्री महाशय ने किसी उपदेश के विषय में कुछ कहने को मुँह खोला। तत्काल सिखों का सरदार आँखें लाल करके गरज उठा, 'क्या, गृही होकर धर्म बताने आया है!' शास्त्रीजी गृहस्थ होकर धर्मोपदेश देने जा रहे थे और सिख सरदार को वह बेअदबी प्रतीत हुआ था।

"स्वामीजी हमारे लिए उपयोगी धर्म की बातें कह गये हैं। इस युग में स्वामीजी ही हमारे आदर्श हैं। ठाकुर की बातें छोड़ दीजिए। लोग पहले स्वामीजी को समझें – उनके भाव को ग्रहण करें। उन्हें समझे बिना ठाकुर को समझने की सम्भावना नहीं है। रामचन्द्र को समझने के लिए पहले उनके भक्त हनुमानजी को समझना होगा। वैसे ही स्वामीजी को समझने से ही ठाकुर को भी समझना हो जायगा।

"स्वामीजी पवित्रता के आधार थे और वे वीर भी थे। ब्रह्मचर्य का अवलम्बन करके पवित्र होना होगा, वीर होना होगा। शरीर, मन तथा वाणी से पवित्र बनना होगा और स्वामीजी का अनुसरण करके निष्काम कर्म करना होगा। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग के अनुसार कर्मवीर बनना होगा।

"हमें ईर्ष्या-द्वेष का परित्याग करना होगा। स्वामीजी के भीतर ईर्ष्या-द्वेष का लेश मात्र भी न था। उनके पास हिन्दू, मुसलमान, जैन, ईसाई – सभी समान आदर पाते थे। इसी कारण तो उनका प्रभाव विश्वव्यापी है। अन्य धर्मों के प्रति द्वेषभाव रखना अच्छा नहीं।

"हम हिन्दू-मुसलमान दो भाई हैं। खूब निष्ठा के साथ और एक-दूसरे के साथ द्वेष न रखकर हमें अपने-अपने इष्ट का भजन करना चाहिये। ठीक-ठीक भजन होने पर हमारी दिव्यदृष्टि खुल जायगी, तब हम समझेंगे कि सब एक ही है।

"मैं और क्या कहूँ? अन्त में एक बात कहता हूँ – हम लोगों को थोड़ा प्रेम करना सीखना चाहिए। प्रीति ही सार है, प्रेम ही परम पदार्थ है। केवल स्वार्थ लेकर बैठे रहने से क्या होगा? दूसरों से प्रेम करना सीखना होगा। ठाकुर की कृपा से सबका मंगल हो।"

वहाँ बाबूराम महाराज और उनके साथ आये भक्त वैज्ञानिक

जगदीश बोस के पैतृक मकान में निवास करते थे। एक रात वे वहीं आये हुए भक्तों के साथ बैठकर विभिन्न प्रकार की बातें कर रहे थे। घूम-फिरकर शाम की सभा का प्रसंग उठा।

महाराज विशेष जोर देकर बोले, ''गृहस्थ भला चैतन्यदेव का, राधारानी का भाव क्या समझेगा? गृहस्थ को राधारानी का नाम तक नहीं लेना चाहिए, लेने से प्रत्यवाय-दोष होता है। कितने ही लोग मधुर भाव की बातें करते हैं और मन-ही-मन विषय का चिन्तन करते हैं। इससे बड़ा अपराध होता है। (पूर्वोक्त लेखक की ओर उन्मुख होकर) विषयी लोगों द्वारा धर्म के विषय में कुछ कहने का प्रयास अनुचित है, अनधिकार-चर्चा है। संसारी धर्म का नहीं, विषय का उपदेशक हो सकता है। समझ रहे हैं? आप बुरा मत मानियेगा। यह मात्र आपको ध्यान में रखकर नहीं कह रहा हूँ। यह एक सामान्य सत्य है। जो सत्य है, वह हमें कहना ही पड़ेगा।''

इसके बाद महाराज उन सज्जन को परम आत्मीय के समान विभिन्न प्रकार से आनन्द प्रदान करने लगे।

बाबूराम महाराज – ''यहाँ जो लड़के कुछ वर्षों से ठाकुर का नाम लेते हुए काम कर रहे हैं, यह क्या किसी के प्रचार का फल है? हम लोग क्या कभी यहाँ प्रचार करने आये थे?

''धर्म क्या बाहर की चीज है, भाई? यह तो भीतर की वस्तु है। जिसमें ठीक-ठीक भाव नहीं है, वह भला धर्म की बातें क्या कहे-सुनेगा? जय प्रभु! जय प्रभु! तुम कुछ बुरा मत मानना जी। हम लोग अपनों को ही 'तुम' कहते हैं।''

परिशिष्ट

१. बंगाल के मैजिनी स्वामी अखण्डानन्द

आज शुक्रवार, १७ मार्च, १९१६ ई. का दिन है। मठ भवन के दक्षिणी ओर के बरामदे में पूजनीय स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी पूर्णानन्द, स्वामी धर्मानन्द, ब्रह्मचारी ब्रह्मचैतन्य, ऋषि महाराज और कुछ अन्य साधु-ब्रह्मचारी दक्षिण की ओर मुख किये बैठे हैं।

सामने विराट मैदान है। सार्वजनिक उत्सव के समय वहाँ एक तम्बू लगाकर श्रीरामकृष्ण के तैलचित्र के सम्मुख कीर्तन आदि होता है। मैदान में तब तक किसी भी मन्दिर का निर्माण नहीं हुआ था, क्योंकि जिनकी अस्थियाँ सीने में धारण किये ये मन्दिर खड़े हैं, तब तक वे सभी जगद्धिताय देह धारण किये विद्यमान थे। उस बरामदे की बाँयी ओर तटबन्ध है; उसके बाद ही पतितपावनी गंगा बह रही हैं।

आज शाम श्रीरामकृष्ण के लीलासहचर स्वामी अखण्डानन्द, पूछे जाने पर अपने जीवन की कुछ घटनाएँ बता रहे हैं –

''१९०७ ई. में मेरी एक तरह की अवस्था हुई थी। उस वर्ष मुर्शिदाबाद, पुरी, नोवाखाली आदि में बड़ा अकाल पड़ा था। मुझे लगता कि लाखों दरिद्र-नारायण भूख की पीड़ा से छटपटा रहे हैं, मर रहे हैं, और मैं भला कैसे अपने मुख में अन्न का ग्रास डालूँ!* उन दिनों सारगाछी (मुर्शिदाबाद) के आश्रम में दो शिक्षक, एक बढ़ई, एक बुनकर, दो नौकर – कुल छह लोग थे। उन सबको तनख्वाह पर रखा था। बहुत-से अनाथ बालक भी थे। मैं भूखे दरिद्र-नारायणों के लिए अन्नत्याग करूँगा – यही सोचकर मैं एक-एक कर चार-पाँच महीने केवल शाक-पात उबालकर खाते हुए पड़ा था। शिक्षक आदि लोगों ने मुझसे भात खाने के लिए कितना ही अनुरोध किया था, परन्तु मैंने उनकी एक न सुनी। वे लोग बोले – आपके ऊपर इस आश्रम की जिम्मेदारी है। आपके इस प्रकार आत्महत्या करने से आश्रम कैसे चलेगा?

''केवल शाक-पात उबालकर खाकर कई माह रहने के बाद शरीर क्रमशः दुर्बल होने लगा। उसके बाद घुटने का एक-एक शिरा उभरने लगा। त्वचा पर महीन दाने निकल आये। बहरमपुर के श्री त्रैलोक्य मुखर्जी ने जब यह बात सुनी, तो वे सारगाछी के आश्रम में आकर मुझे बहुत समझाने लगे। आखिरकार वे बोले – इसके बाद आपके पूरे शरीर में खाज-खुजली होने लगेगी। तब आप विचलित हो जायेंगे और इस तरह बिना खाये नहीं रह सकेंगे। मुझे भी उस समय फुंसियों के समान थोड़ा-थोड़ा दिखाई देने लगा था।

''तभी अमूल्य महाराज (स्वामी शंकरानन्द) मुर्शिदाबाद में अकाल-राहत का कार्य करने आये। उन्होंने मेरी यह दशा देखी। उन्होंने भी मुझे बहुत समझाया। मैं राजी नहीं हुआ। इसके बाद तब वे बोले – हमारा आपके आश्रम में रहकर सेवा-कार्य चलाना नहीं हो सकेगा। आप ठाकुर की सन्तान होकर भी खायेंगे नहीं और मैं खाऊँ – ऐसा नहीं हो सकता, मैं मठ को लौट जाता हूँ।

''अमूल्य महाराज अकाल-पीड़ितों को सहायता देने आये थे। वहाँ रहकर मेरे सामने सहायता बाँटेंगे, जिससे वहाँ के निर्धनों का कष्ट कुछ कम होगा – ऐसा सोचकर उनकी बात पर मैंने उनके साथ फिर भात खाना शुरू किया। भात सहन नहीं होता था, जरा-जरा-सा करके खाना आरम्भ किया।''

❖ (क्रमशः) ❖

* इटली जिन दिनों पददलित था, अकाल के कारण सारे देश में हाहाकार मचा हुआ था, उन दिनों मैजिनी स्वयं काले वस्त्र धारण किये रहते थे। मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं डाल पाते। उनके नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाहित होते रहते थे। पूछने पर कहते – जब तक हमारी मातृभूमि को स्वाधीनता नहीं मिल जाती, दासता से मुक्ति नहीं मिल जाती, तब तक मैं यह काली कमीज ही पहने रहूँगा। वे और भी कहते – मैं जब अपने मुख में रोटी का टुकड़ा डालने जाता हूँ, तो देखता हूँ कि मेरे हजारों भूखे देशवासी भाई एक रोटी के लिए मेरे सामने खड़े हैं। यही सब मन में आने पर वे भोजन नहीं कर पाते थे। उनके नेत्रों से गरम आँसुओं की धार निकला करती थी।

माँ की स्मृति-कणिका

सरयूबाला सेन

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरे पति सुरेन्द्रनाथ सेन को स्वामी ब्रह्मानन्द से दीक्षा मिली थी, पर मुझे माँ की कृपा प्राप्त हुई थी। मेरे पिता थे ठाकुर के परम भक्त रायबहादुर चुनीलाल बसु। मैं उनकी बड़ी पुत्री थी। ग्यारह वर्ष की आयु में मैं रायबहादुर उपेन्द्रनाथ सेन की ज्येष्ठ पुत्रवधू के रूप में अपनी ससुराल आयी। मेरे श्वसुर उन दिनों मुंगेर में सिविल सर्जन थे। श्रीरामकृष्ण की विशिष्ट स्त्रीभक्त गौरी-माँ तब मुंगेर के कष्टहारिणी घाट पर रहा करती थीं। उन्हीं दिनों मेरे पति उनके घनिष्ठ सान्निध्य में आये और तभी से मृत्युपर्यन्त गौरी-माँ उन्हें पुत्र-रूप में देखती थीं। वस्तुत: गौरी-माँ के सान्निध्य में आकर मेरे पति में वैराग्य का संचार हुआ। इसके बाद कलकत्ते के प्रेसिडेंसी कॉलेज में पढ़ते समय वे ठाकुर के संन्यासी तथा गृही भक्तों के सम्पर्क में आये। मेरे पिता चुन्नीलाल बसु स्कॉटिश चर्च कॉलेज में स्वामीजी के सहपाठी थे। मेरी ससुराल कलकत्ते में स्वामीजी के घर के पास ही काँसारी मुहल्ले में थी। विवाह के बाद मेरे पति स्वामीजी के साथ हिमालय भ्रमण करने गये। संन्यास जीवन के प्रति मेरे पति में प्रबल अनुराग था। मेरे पिता के अनुरोध पर ही स्वामीजी ने उन्हें समझा-बुझाकर संसार वापस भेजा। परवर्ती काल में वे भगिनी निवेदिता के भी स्नेहभाजन हुए एवं विवेकानन्द सोसाइटी की स्थापना के कुछ महीनों बाद भगिनी निवेदिता की इच्छा से वे उसके द्वितीय सचिव बने। स्वामीजी के अतिरिक्त वे स्वामी ब्रह्मानन्द तथा स्वामी सारदानन्द के भी बड़े स्नेहपात्र थे।

मेरे पति ही १९०१ ई. में मुझे दीक्षा हेतु माँ के पास ले गये थे। साथ में गौरी-माँ थीं। दीक्षा के बाद माँ ने स्वयं ही खिचड़ी पकाकर हम लोगों को खिलाया था। उस दुर्लभ सौभाग्य की स्मृति तथा उस परम आश्रय की प्राप्ति ही मेरे पूरे जीवन का परम पाथेय है। इसके बाद से जब भी सुयोग पाती, भागकर माँ के पास उद्बोधन पहुँच जाती। माँ का प्रेम कहकर नहीं समझाया जा सकता। वे कितना यत्न करतीं! सदा खिलाने में व्यस्त रहतीं। उद्बोधन जाने पर मैं माँ के साथ ही रहती। गौरी-माँ, गोलाप-माँ और योगीन-माँ भी मेरे प्रति बड़ा स्नेह रखती थीं। माँ के सान्निध्य में केवल आनन्द-ही-आनन्द प्रवाहित होता रहता। मेरे साथ मेरे तीन पुत्र भी रहते। वे बड़े नटखट थे। पूरे घर में धमा-चौकड़ी मचाये रहते। दोपहर में छत पर पतंग उड़ाते। शरत् महाराज के सेवकगण मना करते – दोपहर में छत पर दौड़-धूप मत करो, माँ की नींद में बाधा आयेगी। दोपहर में छत पर शोर-गुल की आवाज न आने पर माँ सेवकों को बुलाकर पूछतीं, "बच्चे क्या कर रहे हैं?" सेवकगण कहते, "उन्हें हम लोगों ने अपने पास रखा है। शरत् महाराज ने कहा है कि वे लोग इस समय छत पर भाग-दौड़ न करें।" माँ ने कहा, "क्यों?" सेवक बोले, "छत पर भाग-दौड़ करने से आपके विश्राम में विघ्न पड़ेगा।" माँ ने कहा, "शरत् से कहो कि उनके छत पर भाग-दौड़ और खेल-कूद करने से मुझे कोई असुविधा नहीं होगी। तुम लोग उन्हें कुछ न कहो। केवल इतना ही देखो कि कहीं गिर-विर न जायँ। दौड़-धूप करने से हाथ-पैर में चोट न लग जाय।" शाम को घर लौटने के समय माँ स्वयं द्वार तक छोड़ने आतीं। बच्चों को अंजलि भरकर मिठाई देतीं। वे लोग खुश होकर खाते-हुए घर लौटते।

एक बार मैं माँ की चरण-पूजा के लिये कुछ कमल लेकर उद्बोधन गयी। मैं घुटनों के बल बैठकर ज्योंही माँ के चरणों में फूल देने लगी, तभी अचानक गिर पड़ी। वैसे चोट तो जरा भी नहीं लगा, पर बड़ी लज्जा आयी। माँ तत्काल मेरे सिर पर हाथ रखकर बोल उठी, "बच्ची है, गिर पड़ी। अहा, कहीं लगा तो नहीं?" उनकी इस स्नेहभरी बातों से जो दर्द था, वह भी तत्क्षण दूर हो गया और जो लज्जा आ रही थी, वह भी तुरन्त चली गयी।

माँ की अन्तिम बीमारी के समय मेरे पति प्रतिदिन माँ की खोज-खबर लेने उद्बोधन जाते। एक दिन उन्होंने माँ से कहा, "माँ, आप मुझे कुछ देंगी नहीं?" माँ ने शरत् महाराज को बुलवाया। उनके आने पर माँ ने उनसे एक कैंची लाने को कहा। शरत् महाराज के कैंची ले आने पर उन्होंने अपने सिर के कुछ बाल काटकर महाराज से कहा, "सामने आले में एक छोटी डिबिया है, उसे ले आओ।" महाराज के डिबिया ले आने पर माँ ने स्वयं इसमें अपने बाल रखकर मेरे पति के हाथ में देती हुई बोली, "यह सिद्ध यंत्र है। इस पर

(शेष अगले पृष्ठ पर)

स्वामीजी के शिकागो-भाषणों में समन्वय और विश्वजनीनता

प्राणनाथ पंकज

आज के इस कार्यक्रम के आयोजकों का मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस कार्यक्रम में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया है। मेरे लिए सम्मान और प्रसन्नता का विषय है कि मुझे यहाँ चण्डीगढ़ के अत्यन्त विशिष्ट और प्रबुद्ध महानुभावों के समक्ष अपने विचार एक ऐसे विराट् व्यक्तित्व के सम्बन्ध में रखने का अवसर प्राप्त हो रहा है जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत की सोई हुई चेतना को जगाया था और साथ ही राष्ट्र की सनातन संस्कृति के परिचय से भौतिकवाद के गढ़ अमेरिका तथा यूरोप को भी आन्दोलित कर दिया था। भगिनी निवेदिता ने कहा था, "स्वामी विवेकानन्द में मुझे भारत के असंख्य प्राचीन आचार्यों और सन्तों के आध्यात्मिक अनुसन्धानों तथा धार्मिक संघर्षों का उत्तराधिकारी दिखाई देता है तथा इसके साथ ही विकास की नवीन एवं भावी व्यवस्था का पथ-प्रदर्शक एवं मसीहा नजर आता है।"

स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि जैसे बुद्ध का सन्देश पूर्व के लिए था, वैसे ही मेरा सन्देश पश्चिम के लिए है। पर वास्तविकता तो यह है कि १८९३ के सितम्बर में धर्म-महासभा के मंच से उन्होंने जो सन्देश दिया था, वहाँ उनके श्रोताओं में केवल पश्चिम के ही नहीं, पूर्व के प्रतिनिधि भी थे और आज १२० वर्ष बीतते-बीतते उनकी वाणी केवल पश्चिम ही नहीं, पूर्व में भी प्रसारित हो रही है।

स्वामीजी ने यह भी कहा था कि उन्हें नाम-यश की अपेक्षा नहीं है। उन्होंने कहा था, "I am a voice without a form." – मैं आकाररहित शब्द हूँ। पर जहाँ यह सच है कि स्वामीजी के शब्द आज विश्व भर में फैल रहे हैं, वहीं यह भी सच है कि ये शब्द जहाँ-जहाँ पहुँचते हैं, वहीं उनका रूप भी साकार हो उठता है। वास्तव में, रूप के बिना शब्द के साथ मित्रता हो ही नहीं सकती। अपने एक वक्तव्य में उन्होंने कहा है कि शब्द का स्थायी प्रभाव तभी होता है, जब वह किसी महान् व्यक्तित्व की वाणी से मुखरित हुआ हो। धर्म-महासभा में हिन्दू-धर्म पर अपना निबन्ध प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था, "जैसे सांस के बिना जीवन की कल्पना सम्भव नहीं है, वैसे ही हम किसी भी वस्तु अथवा व्यक्ति के सम्बन्ध में सोच नहीं सकते, जब तक कि हमारे मन में उसका कोई रूप, कोई आकृति न हो।"

जब हम स्वामीजी के शब्दों को सुनते और पढ़ते हैं, तब निश्चित रूप से हमारे मन में उनकी एक छवि उभरती है – वह छवि जो हमने उनके चित्रों में देखी अथवा जिसे शब्द-चित्रों में उकेरा गया है। वह छवि, जिसे शिकागो की 'इंस्टीट्यूट ऑफ आर्ट' के 'कोलम्बस सभागार' में उपस्थित सात हजार स्त्री-पुरुषों ने देखा था और जिसके शब्द सुनने से पहले ही वे विमुग्ध हो गए थे। कैसी थी वह छवि? – उर्जा की साकार मूर्ति। संपुष्ट शारीरिक गठन। पाँच फुट साढ़े आठ इंच की भव्य देह-यष्टि। आजानु बाहु। प्रशस्त, उन्नत ललाट। विशाल वक्षस्थल। भारी पलकों के भीतर से झाँकते, बड़े-बड़े गहरे नेत्र जिन्हें श्रीरामकृष्ण ने 'कमललोचन' कहा था। श्रीराम के विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा प्रयोग की गई भाषा को उधार लूँ, तो – "वृषभ कंध केहरि ठवनि, बल निधि बाहु बिसाल" और "नव अंबुज अंबक छबि नीकी'। रोमाँ रोलाँ ने कहा था कि वे 'जैतून के रंग के थे'। पर जब मैं उनके रूप का चिन्तन करता हूँ, तो मुझे कवि बिहारी की पंक्ति याद आती है, जिसमें उन्होंने कहा था कि जब श्रीकृष्ण

पिछले पृष्ठ का शेषांश

सभी देवी-देवताओं की पूजा होगी। पूजा में किसी आडम्बर की आवश्यकता नहीं। सात्त्विक पूजा होगी। इष्टमंत्र का जप करके यंत्र को स्नान कराना। रहे तो गंगाजल से अन्यथा नल के पानी से ही नहलाना और मानसिक पूजा करना।" उस दिन मेरे पति बिना कुर्ता पहने इस सिद्ध यंत्र को सिर पर रख कर घर ले आये। माँ के निर्देशानुसार उन्होंने आजीवन उस यंत्र की सात्त्विक पूजा की। माँ के देहत्याग के बाद १९२० ई. में शरत् महाराज ने उस यंत्र के ऊपर काली-पूजा की। उस दिन महाराज ने मुझे तथा मेरे पति को पूर्णाभिषिक्त किया। पूजा समाप्त होने के बाद उन्हें गेरुआ वस्त्र, दण्ड तथा कमण्डलु दिया। दण्ड तथा कमण्डलु उन्होंने अपने पास ही रखा। उनका निर्देश था, "गेरुआ पहनना नहीं होगा, पर अन्तिम यात्रा गेरुए में ही होगी।" माँ ने स्वयं मेरे पति और मुझसे कहा था, "जो लोग ठाकुर की शरण लेंगे, उन्हें कभी भी मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव नहीं होगा।" जैसे माँ के दिये सिद्धयंत्र ने हमें माँ का आश्रय दिया है, वैसे ही ठाकुर का भी आश्रय दिया है। यह सिद्धयंत्र ही आज भी हमारे परिवार के लिए मोटा अन्न-वस्त्र जुटाता है और भविष्य में भी ऐसा ही करेगा। केवल मोटा अन्न-वस्त्र ही इसकी जिम्मेदारी नहीं है, इसने हमारे परिवार के आध्यात्मिक जीवन का भार भी लिया है – इसी विश्वास को मन में लिये मैं आज भी जीवित हूँ।

❖ (क्रमशः) ❖

के श्यामल वर्ण पर राधाजी की तपे हुए कंचन जैसी गौर छाया पड़ती है, तो श्रीकृष्ण स्वर्णाभ-श्याम हो जाते हैं –

जा तनु की झाईं परत स्यामु हरित दुति हई ।।

शिकागो के एक सामाचार-पत्र ने लिखा था कि 'स्वामी विवेकानन्द का रूप अत्यन्त रुचिकर है, उनका व्यक्तित्व आकर्षक है, उनका मुखण्डल सुन्दर, मेधावी तथा भावप्रवण है, जो पीत परिधान में और भी अधिक निखर उठता है। यह कहने के बाद ही उस पत्र ने उनकी वाणी की बात कही थी – "उनके गम्भीर स्वर में संगीत है, जो फौरन श्रोता को अपने प्रभाव में बाँध लेता है।"

आप मुझे स्वामीजी के रूप का वर्णन करने के लिये क्षमा करेंगे। बात यह है कि मैं ईश्वर के भी साकार रूप का ही चिन्तन करता हूँ। अत: मेरी स्वाभाविक इच्छा है कि स्वामीजी के रूप-दर्शन में मैं आपको भी अपना साझीदार बना लूँ।

स्वामीजी ने शिकागो की धर्म-महासभा में ११, १५, १९, २०, २६ तथा २७ सितम्बर १८९३ को छह भाषण दिये थे। इनके अतिरिक्त महासभा के विभिन्न सत्रों के बीच तथा उनके बाद भी, परिचर्चाओं, प्रश्नोत्तरों, संवादों के दौर चलते रहे थे। मैं यहाँ उनके भाषणों में समन्वय, समरसता तथा विश्वजनीनता की जो ध्वनियाँ है, उन्हीं की चर्चा करूँगा। पर ऐसा करने से पूर्व संक्षिप्त-सी पृष्ठभूमि का उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ।

प्रथमत: उनकी पाश्चात्य दर्शन से गहरी जानकारी – उन्होंने मिल, डेकार्ट, बैंथम, स्पिनोजा, शापेनहावर, हेगल, स्पेंसर जैसे प्रसिद्ध दार्शनिकों का गम्भीर अध्ययन किया था। दूसरे, उतनी ही गहराई से उन्होंने वेदों, उपनिषदों, दर्शन-शास्त्रों, पुराणों, गीता, रामायण, महाभारत, बौद्ध-दर्शन आदि का न केवल शास्त्रीय, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी स्वाध्याय किया था। पाश्चात्य और भारतीय दर्शनों का यह अध्ययन केवल जानकारी या शाब्दिक पाण्डित्य – 'वाग्वैखरी शब्दझरी' – के निमित्त नहीं था। यह सारा तत्त्वज्ञान उन्होंने आत्मसात् किया था और फिर उनमें जो अन्तर्निहित जटिलताएँ और गुत्थियाँ थीं, उन्हें अपनी अलौकिक प्रज्ञा से सुलझाया और उनमें जो पारस्परिक विरोध दिखाई देते थे, उनका निराकरण करके उनमें सामंजस्य स्थापित करने के प्रयास किये थे; और यह एक मुख्य कारण था कि धर्म-महासभा में वे विरोध के नहीं समन्वय के वक्ता के रूप में उतरे थे। तीसरे, स्वामीजी का सत्यान्वेषण के प्रति तीव्र आग्रह – एक छटपटाहट, जिसे श्रीरामकृष्ण 'व्याकुलता' कहते हैं, उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी कि मैं जब तक सत्य का साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक चैन से बैठ नहीं सकता – उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी और यहाँ-वहाँ भटकते नरेन्द्र को अन्तत: श्रीरामकृष्ण के चरणों तक ले आई थी।

चौथे, श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में उनका जो आध्यात्मिक रूपान्तरण हुआ था, उसका एक परिणाम यह भी हुआ कि उन्हें सभी धर्मों की मूलभूत एकता की अनुभूति हुई और उन्होंने श्रीरामकृष्ण के 'जितने मत उतने पथ' – वाक्य को अपना आदर्श बना लिया था, जिसमें भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन की मूलभूत एकता सहज ही अभिव्यक्त हो गई थी।

पाँचवी बात यह कि १८८६ से १८९२ ई. के दौरान पाँच वर्ष की अवधि में उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण – मानो परिक्रमा की थी। स्वामीजी ने इसका पुण्यभूमि के रूप में उल्लेख किया था। उन्होंने कहा था, "यदि इस संसार में कोई सौभाग्यशाली पुण्यभूमि है, तो वह भारतभूमि ही है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को – भले ही वह किस भी देश में, कितनी बार भी जन्म लेता रहे, पर अन्तत: मोक्ष पाने हेतु – यहीं, इसी भारतभूमि पर, जो समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में बसी हुई है, जन्म लेना होगा –

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती तत्र सन्ततिः ।।

स्वामीजी न केवल इस भूमि से प्रेम करते थे, बल्कि इसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रणाम भी करते थे। यद्यपि वे कहते थे कि मैं केवल भारत का नहीं, पूरे विश्व का हूँ और इस नाते वे एक सच्चे विश्व-नागरिक थे, तथापि भारत के साथ उनकी अन्तरात्मा – निज की आत्मा जुड़ी थे। परिव्राजक विवेकानन्द ने भारत के सौन्दर्य और सम्भावनाओं को, इसकी गरिमा, इसके विद्वानों, इसके शासकों को तो देखा-समझा ही था, परन्तु इसके साथ ही उन्होंने करोड़ों भारतवासियों की विपन्नता, दरिद्रता, भूख, अशिक्षा और पराधीनता को भी देखा था और इसके लिये वे खून के आँसू रोते थे। काश कि उर्दूकवि मिर्जा गालिब उस वक्त वहाँ होते, तो उन्हें अपने इस शेर का रूमानी ही नही, हक़ीक़ी अर्थ भी समझ में आ जाता –

रगों में दौड़ते फिरने के हम नहीं कायल ।
जो आँख ही से न टपका, तो फिर लहूँ क्या है ।।

स्वामीजी ने अपने व्यक्तिगत जीवन में असंख्य कठिनाइयों, कष्टों तथा चुनौतियों का सामना किया था और उनके ये निजी अनुभव जब देशवासियों की दुरवस्था में प्रतिबिम्बित होने लगे, तो उन्हें एक समानुभूति-पूर्ण दृष्टि की प्राप्ति हुई थी। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि-कथाकार अज्ञेय कहते हैं, "वेदना में एक शक्ति होती है, जो दृष्टि देती है। जो यातना में है, वह द्रष्टा हो सकता है।" स्वामीजी की निजी वेदना, उनके पीड़ा-भरे अनुभव, जब देशवासियों की पीड़ा से एकाकार हो गए, तो उन्हें यथार्थ दृष्टि मिली, जो उनके अध्यात्म तथा उनके आदर्शों के साथ जुड़ गई। आध्यात्मिक ऋषि अर्थात् द्रष्टा विवेकानन्द व्यावहारिक जगत् के भी ऋषि हो गए। विवेकानन्द जब शिकागो की ओर चले, तब पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन,

निजी जीवन के कठोर अनुभव, श्रीरामकृष्ण तथा माँ सारदा के आशीर्वाद और आध्यात्मिकता तथा देशवासियों की विपन्नता के साथ-साथ देश का गौरवमय अतीत तथा उसकी संस्कृति – यह सारी पूंजी उनके साथ थी।

एक बात और। श्रीरामकृष्ण ने एक मंत्र दिया – दया नहीं, सेवा – 'शिव ज्ञाने जीव सेवा'। इस मंत्र ने स्वामीजी को उस समय तो गद्गद किया ही था, पर कुछ समय बाद जब वे स्वामी अखण्डानन्दजी के साथ भ्रमण करते हुए अल्मोड़ा के पास काकड़ी घाट में एक पीपल के नीचे ध्यानस्थ हुए, तो इस मंत्र का रहस्योद्घाटन हुआ। उन्हें अनुभूति हुई कि प्रत्येक जीव ईश्वर है। स्वामीजी ने कहा, "मेरे जीवन की सबसे कठिन समस्या सुलझ गई और मुझे पिण्ड और ब्रह्माण्ड, अणु और विभु microcosm और macrocosm की अभिन्नता का अनुभव हो गया – यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।" इस अनुभव ने उनके लक्ष्य को स्पष्ट कर दिया और साथ ही उनकी अमेरिका-यात्रा का उद्देश्य भी स्पष्ट कर दिया। वह उद्देश्य था – अपने देश के नारायण-स्वरूप निर्धनों, दुर्भिक्ष-पीड़ितों, अभावग्रस्तों के लिए आर्थिक सहायता जुटाना।

अनुभवों और उद्देश्यों की इस सम्पदा के साथ ३१ मई, १८९३ को वे 'पेनिनसुलर' नामक स्टीमर से जापान के लिये रवाना हुए। वहाँ से 'एम्प्रेस ऑफ इंडिया' नामक जलयान से ३० जुलाई को वैंकुवर पहुँचे। वहाँ से वे रेल द्वारा शिकागो गये। वहाँ से बोस्टन और फिर धर्म-महासभा के लिए शिकागो लौटे। इस बीच उनका जिन कठिनाइयों का सामना हुआ, उनके विषय में यही कहना यथेष्ट होगा कि सारी कठिनाइयों के बीच ईश्वरीय प्रेरणा से सहायता भी मिलती रही और अन्तत: वे धर्मसभा के मंच पर पहुँच गये। जब हम महासभा में स्वामीजी की उपस्थिति और उनके वक्तव्यों पर विचार करते हैं, तो हमें उन स्रोतों का भी स्मरण करना होगा, जिनसे उनके भाषणों में समन्वय, समरसता, विश्वजनीनता की ध्वनियाँ उभरी थी। कवि नीरज लिखते हैं –

काले तन या गोरे तन की, मैले मन या उजले मन की।
चाँदी सोने या चंदन की, औगुन की या निर्गुन की।।
पावन हो कि अपावन हो, भावन हो कि अभावन हो।
पूरब की हो या पच्छम की, उत्तर की हो या दक्खन की।
हर मूरत तेरी मूरत है, हर सूरत तेरी सूरत है।
मैं कोई घूंघट छुऊँ, तुझे ही बेपर्दा कर आता हूँ।।
हर दर्पन तेरा दर्पन है, हर चितवन तेरी चितवन है।
मैं किसी नयन का नीर बनूँ, तुमको ही अर्घ्य चढ़ाता हूँ।

स्वामीजी जब एक ओर यह कहते थे कि ईसाई धर्म-प्रचारकों का भारत जाकर हिन्दुओं को ईसाई बनाने की नहीं, उनकी आत्माओं को नरक से बचाने की नहीं, अपितु उनके शरीरों को भूख से बचाने की जरूरत है; और दूसरी ओर भौतिक दृष्टि से सम्पन्न, पर आध्यात्मिक दृष्टि से निर्धन अमेरिका को हिन्दुओं के प्राचीन आध्यात्मिक-विज्ञान का सन्देश देते थे, तो वे एक ही साँस में पूर्व और पश्चिम के दो ध्रुवों को मिलाने का प्रयास करते थे। उनके इस कार्य ने रूडयार्ड किप्लिंग की इस उक्ति को निरस्त कर दिया – 'पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम; इन दो ध्रुवों का मिलन है ना-मुमकिन'। उपनिषद् में कहा गया है कि हमें परा विद्या और अपरा विद्या – अध्यात्म ज्ञान और भौतिक ज्ञान – दोनों की ही जरूरत है। अपरा विद्या द्वारा हमें इस मृत्युमय संसार को पार करना है तथा पराविद्या द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करनी है –

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्याऽमृतमश्नुते।।

और जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है – इन दोनों के आश्रय स्थल एक ही, स्वयं परमात्मा हैं –

यदविद्या च विद्या च पुरुषः तदुभयाश्रयः।

भारत की अध्यात्मविद्या को पश्चिम में पहुँचाना है और पश्चिम की भौतिक विद्या की सहायता से भारत को समृद्ध करना है। उर्दू के शायर अकबर इलाहाबादी ने कहा था –

पुरानी और नई तहज़ीब में बस फ़र्क है इतना।
इसे क़श्ती नहीं मिलती, उसे साहिल नहीं मिलता।।

स्वामीजी ने पश्चिम को अध्यात्म का साहिल (तट) दिखाया और साथ ही प्रेरणा दी कि उसके पास नवीन ज्ञान-विज्ञान, टेक्नॉलॉजी की जो कश्ती (नौका) है, उसके द्वारा वह भारत को संसार में तैरने – समृद्ध और सफल होने – में सहयोग करे। यदि अभावग्रस्त भूख से त्रस्त व्यक्ति से अध्यात्म की चर्चा करना उसका अपमान करना है, तो दूसरी ओर सांसारिक ऐश्वर्य, भोग-विलास एवं इन्द्रिय-लोलुपता से ग्रस्त व्यक्ति का, जैसा कि पश्चिम में दिखाई देता है – उनसे न उबर कर जीवन की उच्चतम उपलब्धि के लिये प्रयास न करना, मनुष्य-जीवन को वृथा गँवा देने जैसा है।

११ सितम्बर १८९३ के दिन स्वामीजी ने जो पहला भाषण दिया था, उसके सम्बोधन को याद करके हम प्रसन्न होते हैं। जब उन्होंने कहा, 'अमेरिकावासी भाइयो और बहनो', तो उस सभागार में एक हलचल मच गई थी। सारे श्रोता उठ खड़े हुए थे। सात हजार लोग लगातार दो मिनट तक करतल ध्वनि करते रहे थे। उस क्षण को याद करते हुए स्वामीजी ने कहा था, "इससे पहले कभी मैंने इतने विशाल जनसभा को सम्बोधित नहीं किया था। मैंने कोई तैयारी नहीं की थी। बस, माँ सरस्वती का स्मरण किया और भाषण के लिए उठ खड़ा हुआ।" सात हजार लोग मानो अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करने के लिये उठ खड़े हुए, पर यह न जानते हुए कि ये सुमन किसके लिये हैं। ये श्रद्धा-सुमन नि:सन्देह

स्वामीजी के व्यक्तित्व की विलक्षणता, उनके हृदय की सत्य-निष्ठता और उनके तेजस्वी मुखण्डल के लिए तो थे ही, पर मेरे विचार में एक और कारण भी है। मैं प्राय: मन-ही-मन सोचा करता हूँ कि स्वामीजी का यह सम्बोधन केवल शिष्टाचार मात्र नहीं था, जैसा कि वक्ता प्राय: करते हैं, यह सम्बोधन उनके हृदय में बसी उस बद्धमूल धारणा की सच्ची अभिव्यक्ति थी, जिसके अनुसार यह सारा विश्व एक परिवार है – **वसुधैव कुटुम्बकम्** और हम सब उसके सदस्य हैं। श्रीमाँ सारदा देवी कहती थीं – यह सारा संसार तुम्हारा अपना है, यहाँ कोई भी पराया नही है। इसी भाव में समन्वय, समरसता और विश्वजनीनता के सूत्र हैं। स्वामी त्यागानन्दजी कहते हैं, ''शिकागो में स्वामीजी के भाषणों का प्रभाव अन्य सभी की तुलना में सबसे अधिक इसलिये पड़ा, क्योंकि उनमें कोरी विद्वत्ता न थी। वे धर्ममहासभा में विश्वजनीनता (Universality) और समरसता (harmony) की जीवन्त मूर्ति – उनकी गम्भीर अनुभूति का प्रतीक बनकर उतरे थे।

वेदों के युग से हम परमात्मा को '**सखा पिता पितृतमः पितृणाम्** और **यो नः पिता जनिता यो विधाता** कहकर सम्बोधित करते आए हैं। गीता में अर्जुन ने **पितासि लोकस्य चराचरस्य** – इस चराचर विश्व के पिता – कहकर श्रीकृष्ण को प्रणाम किया है। यह पिता केवल आकाशवाणी (Our Father in heaven) नहीं है। वेद कहता है कि उस परम पुरुष ने पूरी भूमि और विश्व को व्याप्त किया और उसके ऊपर विराजमान हुआ – **स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्**। गीता कहती है – **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति** – ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में निवास करता है। इस नाते हम – विश्व के सब प्राणिमात्र, भाई-बहन ही तो हुए ! पर स्वामीजी के लिये यह मात्र सैद्धान्तिक सत्य नहीं था। यह उनके जीवन का वास्तविक सत्य था। व्यवहार में सांसारिक नाते जो भी हों, पर उन संन्यासी का सत्य यही था कि हम सब सर्वव्यापक परमात्मा की सन्तान हैं और वह हम सबके हृदय में बसता है। यही अनुभूत सत्य अनायास ही उस क्षण स्वामीजी के मुख से अभिव्यक्त हो गया था और जब उनकी वाणी से 'अमेरिकावासी भाइयो और बहनो' सम्बोधन निकला, तो आनन्द और उल्लास से भरा एक चमत्कार हुआ और सहज ही 'हॉल ऑफ कोलम्बस' तालियों से गूँज उठा और दो मिनट तक गूँजता रहा। यही वह समन्वय-योग था, जिसने पूर्व का हृदय पश्चिम से जोड़ दिया था। यही विवेकानन्द की विश्वजनीनता, समरसता एवं समता के विजय का प्रथम क्षण था। यदि योग का अर्थ जुड़ना और उसके द्वारा 'एक का असंख्य हो जाना' या 'एक में असंख्य का समाहित हो जाना' अर्थात् केन्द्रापसारी और केन्द्राभिसारी – सेंट्रीपेटल और सेंट्रीफ्यूगल – शक्तियों का एकाकार हो जाना होता है, तो इस सम्बोधन के क्षण में यह योग सम्भावना मात्र न रहकर वास्तविकता बन गया था और विवेकानन्द उस विशाल जन-समुदाय से मिलकर अनेक – **एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय** – हो गए थे तथा वह जन-समुदाय उनमें समाहित होकर एकाकार हो गया था – **एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा**।

स्वामीजी ने कहा था, ''यदि एक धर्म सच्चा है, तो नि:सन्देह अन्य धर्म भी सच्चे हैं। इस दृष्टि से हिन्दूधर्म उतना ही आपका भी है, जितना कि मेरा। हम हिन्दू केवल सहिष्णु ही नहीं, हम स्वयं को प्रत्येक धर्म के साथ स्वयं को जोड़कर एक कर लेते हैं। हम मस्जिद में सिजदा करते हैं, पारसियों के अग्निदेव की पूजा करते हैं और ईसाइयों के क्रॉस के आगे घुटने टेकते हैं। हम सभी धर्मों को समान (मानते ही नहीं) जानते हैं। सबसे निचले स्तर की – गण्डे ताबीजों की पूजा से लेकर उच्चतम अद्वैत सिद्धान्त तक – ये सब मानव-आत्मा के विभिन्न प्रयास उस अनन्त सत्य का साक्षात्कार कराने के लिए ही हैं।''

एक सूफ़ी कविता का प्रो. ब्राठन द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद है – "Beaker or flagon, or bowl or jar ; clumsy or slender, course or fine. However the potter may make or mar ; All were made to centain the wine; Should we this one or that one shun? when the wine which gives them their worth is one?"

गीता में श्रीकृष्ण के वाक्यों को उद्धृत करते हुए स्वामीजी ने कहा था, ''**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव** – जैसे बहुत से मोती-मणियाँ एक धागे में पिरोए हुए हों, वैसे ही यह सब कुछ मेरे में ही पिरोया हुआ है और **यद्यद्विभूतिमत्-सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोऽंश-सम्भवम्** – 'जहाँ कहीं भी तुम्हें ऐसी असाधारण पवित्रता का, असाधारण शक्ति का साक्षात्कार होता हो, जिससे मानवता पवित्र और उन्नत होती हो, तो तुम समझो कि मैं वहीं हूँ।''

शिकागो की धर्ममहासभा में विवेकानन्द की आँखों के सामने पश्चिम का वह जनसमूह था, जो आधुनिकता के अच्छे-बुरे प्रयासों, प्रभावों और संघर्षों का प्रतिनिधित्व करता था। भगिनी निवेदिता लिखती हैं, ''जब विवेकानन्द बोलने के लिए उठे, तो उनके समक्ष एक विराट् मनोभूमि थी, एक युवा मानस का उद्दाम, अनन्त, अपनी ही ऊर्जा से उमड़ता हुआ सागर था। इसके विपरीत पृष्ठभूमि में अपने प्राचीन आध्यात्मिक विकास की परिणति के रूप में – मौन, शान्त, एक दूसरा समुद्र था, जो वेदों जितना प्राचीन था, उपनिषदें जिसकी स्मृतियों में बसी हुई थीं, इतना प्राचीन कि बौद्ध-धर्म भी उसके सामने अपेक्षाकृत आधुनिक ही लगता था। इस प्रकार दो मानस-समुद्रों की बाढ़ थी – प्राच्य और आधुनिक – जिनका संगम धर्म-महासभा के उस क्षण में विवेकानन्द में

हो गया था। इस सम्पर्क की जो निष्पत्ति विवेकानन्द के व्यक्तित्व में हुई, उसी से उनकी वाणी में 'हिन्दू-धर्म के सर्वमान्य आधारों' की व्याख्या हुई थी। इस दृष्टि से आधुनिकता और पुरातनता के समन्वय स्थल भी विवेकानन्द ही हुए।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध शिव-महिम्न-स्तोत्र के एक श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या करते हुए स्वामीजी ने कहा था, "जैसे विभिन्न स्थानों से आती हुई नदियों का जल समुद्र में विलीन हो जाता है, वैसे ही हे परमात्मा ! विभिन्न रुचियों के चलते मनुष्य जो अलग-अलग मार्ग अपनाते हैं, वे सीधे-सादे हों या टेढ़े-मेढ़े, वे भले ही अलग-अलग प्रतीत होते हों, अन्तत: तुम्हीं तक पहुँच जाते हैं –

रुचीनां वैचित्र्यादृजु-कुटिल-नाना-पथजुषां-
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसाम्-अर्णव इव ।।

इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए उन्होंने कहा था, "यदि हिन्दू-धर्म का लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है, तो उसके लिये नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसे प्राप्त करने के लिये स्वतंत्र मार्ग चुनने का अधिकार है। स्वामीजी ने कहा था कि हमें मिलकर एक ऐसे मन्दिर का निर्माण करना चाहिए, जहाँ केवल 'ॐ' उत्कीर्ण हो और जहाँ न केवल विभिन्न भारतीय सम्प्रदाय, अपितु पूरे विश्व के धर्म आकर मिलते हों।

यह सच है कि स्वामीजी की वाणी गीता के श्रीकृष्ण, बुद्ध, शंकराचार्य तथा अन्य महान् आचार्यों की वाणी की तरह ही वेदों और उपनिषदों के वाक्यों से भरी हुई थी। भगिनी निवेदिता ने तो यहाँ तक कहा है, "विवेकानन्द का जन्म न भी हुआ होता, तो भी उनके द्वारा प्रतिपादित सत्य उतने ही सच्चे और प्रामाणिक होते।" पर निवेदिता ने इसके साथ यह भी जोड़ा है कि ऐसा कहना गलत होगा कि स्वामीजी के उपदेशों में नया कुछ नहीं है। श्री शंकराचार्य के अद्वैत-दर्शन की सम्पूर्ण प्रभुता के साथ उन्होंने (श्री मध्वाचार्य के) द्वैत और (श्री रामानुजाचार्य के) विशिष्टाद्वैत को जोड़ते हुए कहा था कि द्वैत और विशिष्टाद्वैत जिस अध्यात्म-यात्रा के पड़ाव हैं, अद्वैत उसका चरम गन्तव्य है। मनुष्य मिथ्या से सत्य की ओर नहीं, अपितु निम्न स्तरीय सत्य से उच्चतर और उच्चतम सत्य की ओर बढ़ता है।"

इस प्रकार स्वामीजी न केवल पूर्व और पश्चिम के संगम-स्थल थे, वे अतीत को भविष्य के साथ तथा भारत के अपने भिन्न-भिन्न मतों और सम्प्रदायों को भी आपस में जोड़ने वाले थे। शिकागो के मंच से स्वामीजी की निर्भीक वाणी से यह सन्देश मुखरित हुआ था – "अनेक हों या एक, वास्तव में वे सब एक ही सत्य के रूप हैं। उपासना के ही सभी प्रकार नहीं, कर्म के भी सभी प्रकार और सभी संघर्ष भी – ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग ही हैं। जीवन स्वयं धर्म है। परिश्रम ही पूजा है। विजय में भी त्याग है।" इस प्रकार स्वामीजी ने कर्म, उपासना और ज्ञान का भी समन्वय कर दिया था।

योग की परिभाषा करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा, "**योगः कर्मसु कौशलम्** – कर्मों में कुशलता का नाम योग है।" स्वामीजी ने बताया कि ज्ञान और उपासना का आश्रय लेकर कर्म करने में ही जीवन के चरम-लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है; और यही कर्मों में कुशलता की कसौटी है।

२७ सितम्बर को स्वामीजी ने जिन प्रसिद्ध सूत्र-वाक्यों से अपने अन्तिम भाषण का उपसंहार किया था, वे आज भी विश्व में गूँजते हुए, मानव-जाति का आह्वान करते हैं – "बहुत शीघ्र सभी धर्मों के ध्वजों पर लिखा मिलेगा –'संघर्ष नहीं, सहयोग', 'विध्वंस नहीं, समानता', 'विरोध नहीं, समरसता और शान्ति' – 'Upon the banner of every religion will soon be written, "Help and not Fight," Assimilation, and not Destruction", "Harmony and Peace, and not Dissension" आज की वैश्विक परिस्थितियों को देखते हुए लग सकता है कि मंजिल अभी दूर है, पर इतिहास की दृष्टि क्षणों पर नहीं शताब्दियों, बल्कि युगों तक टिकी होती है। स्वामीजी वर्तमान युग के मंत्र-द्रष्टा-ऋषि थे। हजारों साल पहले ऋग्वेद के ऋषि का भी कुछ ऐसा ही आशीर्वाद था –

समानो मंत्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

मन्त्र एक सा हो तुम सब का, होवे प्राप्ति समान
अन्त:करण समान सभी के; सम विचार सम ज्ञान।
तुम सबके हित मैं अभिमन्त्रित करता मन्त्र समान,
सम हविष्य से लिये तुम्हारे करता आहुति दान ।।
तुम सबकी चेष्टा समान हो, निश्चय एक समान;
हृदय तुम्हारे एक तुल्य हों, हो न विषमता भान।
एक सदृश ही हों तुम सबके अन्त:करण उदार;
हो सुन्दर सहवास तुम्हारा, ज्यों समता साकार ।।

ऋग्वेद के ऋषि के ये आशीर्वाद और हमारे युग के ऋषि स्वामी विवेकानन्द की यह भविष्यवाणी मानवता के हितार्थ, कल्याणार्थ फलीभूत हों। धन्यवाद ! ❑❑❑

पृष्ठ २७० का शेषांश

२६. 'लीलाप्रसंग', भाग २, पृ. ८१२; **२७.** वही, पृ. ८१५; **२८.** विवेकानन्द साहित्य, भाग १, पृ. ३६५; **२९.** महेन्द्रनाथ दत्त : श्रीश्रीरामकृष्ण-अनुध्यान (बँगला), कलकत्ता, प्र.सं., पृ. ८३; **३०.** The Complete Works of Sister Nivedita, कलकत्ता, १९६७, भाग १, पृ. ६८

आँटपुर और सिमुलतला में स्वामीजी

स्वामी विदेहात्मानन्द

पुनः वराहनगर मठ में

१८८८ ई. के अन्त में स्वामीजी हाथरस से वराहनगर-मठ लौट आये और करीब एक वर्ष उन्होंने अपने गुरुभाइयों के साथ आनन्दपूर्वक बिताया। अपवाद था – थोड़े दिनों के लिये १८८९ ई. के फरवरी में तारकेश्वर होते हुए आँटपुर तक और जून या जुलाई में कुछ दिनों के लिये बिहार में वैद्यनाथ-देवघर के निकट स्थित सिमुलतला गये थे।

स्वामीजी के मठ लौटने के कुछ माह बाद ही हाथरस से शरत्चन्द्र (सदानन्द) भी आ पहुँचे। मठ में पहुँचकर उन्होंने सुना कि स्वामीजी का पुन: सुदीर्घ भ्रमण के लिये निकलना निश्चित हो चुका है। परन्तु नवागत शिष्य को पाकर उन्होंने अपना वह संकल्प एक वर्ष के लिये स्थगित कर दिया।

स्वामीजी ने अपनी पिछली यात्रा के दौरान क्या देखा और क्या अनुभव प्राप्त किये, इस विषय में स्वामी निखिलानन्द लिखते हैं – "स्वामीजी अब आर्यों की पुण्यभूमि आर्यावर्त अर्थात् उत्तर भारत का अवलोकन कर चुके थे। भारत की आध्यात्मिक संस्कृति इसी आर्यावर्त में उत्पन्न एवं विकसित हुई है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा वेदों-उपनिषदों में प्रकट हुई, पुराणों एवं तन्त्रों के रूप में विकसित हुई और अन्तत: शक, हूण, यूनानी, पठान, मुगल आदि विदेशी जातियों के अवदान से समृद्ध हुई। इस प्रकार भारत में बहुत्व में एकत्व के आदर्श पर आधारित एक अनुपम सभ्यता का विकास हुआ। परम्परागत हिन्दू चेतना में कुछ-कुछ विदेशी तत्त्व भी पूर्णत: विलीन हो गये। कुछ अन्य संस्कृतियों ने भारत की प्राचीन परम्परा से बहुत कुछ लेकर भी अपना अलग अस्तित्व बनाये रखा था। भारत तथा एशिया की आध्यात्मिक एकता का अनुभव करने के पश्चात् स्वामीजी ने प्राच्य सभ्यता का मूल वैशिष्ट्य जान लिया और वह वैशिष्ट्य था – अनित्य वस्तुओं को त्यागकर नित्य वस्तु के साथ सम्बन्ध जोड़ना। ... परन्तु भारत की आम जनता का जड़ जीवन देखकर उनका जी भर आया था। उनकी इस दुरवस्था के लिये उन्होंने मुख्यत: पुरोहितों और जमींदारों को उत्तरदायी ठहराया। स्वामीजी ने पाया कि भारत के अध:पतन का कारण धर्म नहीं है, बल्कि इसके विपरीत जब तक वह धार्मिक आदर्शों को पकड़े रहा तब तक समृद्धशाली रहा है। परन्तु काफी काल तक शक्ति का उपभोग करने के कारण पुरोहितवर्ग धर्मभ्रष्ट हो गया है, अधिकांश लोग धर्म से वंचित रखे गये हैं और हिन्दू संस्कृति के मूल उद्गम वेदों की पूर्णत: उपेक्षा हुई है। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज की संघटनात्मक एकता पर बल देने के लिये जिस जाति व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ था, वह अब जड़ हो चुकी है। इस व्यवस्था का मूल उद्देश्य था – बलवानों के साथ क्रूर स्पर्धा में निर्बलों की रक्षा करना और सैन्य, धन एवं संगठित श्रम की शक्ति के ऊपर आध्यात्मिक ज्ञान की महत्ता को बनाये रखना। परन्तु अब यह व्यवस्था जनसाधारण की क्रियाशीलता को कुण्ठित कर रही है। स्वामीजी अपनी मातृभूमि के पुनरूत्थान हेतु वेदों के चरित्र-गठन-कारी ज्ञान का द्वार सबके लिये उन्मुक्त कर देना चाहते थे। अत: वराहनगर मठ में उन्होंने अपने गुरुभाइयों को पाणिनीय व्याकरण पढ़ने की प्रेरणा दी, ताकि वे वेद-वेदान्त का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकें।

"इस्लाम के लोकतंत्री एवं समता के भाव ने भी स्वामीजी के मन को आकृष्ट किया और उनके मन में वैदान्तिक बुद्धि तथा इस्लामी शरीर के संयोग से एक अभिनव भारत गढ़ने की इच्छा जागी। इसके अतिरिक्त उनके मन में एक अन्य विचार भी उठने लगा था, और वह यह कि पाश्चात्य विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का आश्रय लिये बिना हमारी आम जनता की भौतिक अवस्था में सुधार होना सम्भव नहीं है। वे उन दिनों भी प्राच्य एवं पाश्चात्य को जोड़ने हेतु एक सेतु निर्माण करने का स्वप्न देख रहे थे। परन्तु इस राष्ट्र का सच्चा नेतृत्व इस देश की मिट्टी से ही विकसित होना चाहिये। उन्हें बारम्बार स्मरण हो आया कि श्रीरामकृष्ण स्थानीय संस्कृति की ही विशुद्ध उपज हैं और उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों का यथार्थ मर्म समझ कर ही भारतवर्ष अपनी एकता एवं अखण्डता की उपलब्धि कर सकेगा।"[१]

इस भ्रमण के अनुभवों के विषय में एक बार उन्होंने वार्तालाप के दौरान बताया था, "रामकृष्ण देव के प्रभाव से इस समय का विच्छिन्न भारतवर्ष पुन: एक होगा।"[२]

श्रीरामकृष्ण के जीवन और उपदेशों का विश्लेषण करते हुए वे अपने गुरुभाइयों से कहते – दोष धर्म का नहीं है, अपितु धर्म के नाम पर धर्म का व्यवसाय करनेवाले धर्माधिकारियों तथा पुरोहितों ने ही समाज पर अपना आधिपत्य फैलाकर हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को पंगु बनाये रखा है। सैकड़ों वर्षों के विधि-निषेध के अन्धानुकरण ने समाज में एक ओर जैसे वंश और रक्त की श्रेष्ठता का मिथ्या अभिमान सृष्टि की है, साथ ही इसने हीनता-बोध, विभिन्न सम्प्रदायों तथा अनेक शाखा-प्रशाखाओं-वाले कृत्रिम जाति-विभाग को भी जन्म दिया है। यदि हम समग्र

१. स्वामी विवेकानन्द : एक जीवनी, निखिलानन्द, प्र.सं., पृ. ८१-८३

२. स्वामी विवेकानन्द (बँगला), प्रमथनाथ बसु, भाग १, पृ. १४८

भारतवासियों को एक अखण्ड जाति में परिणत करना चाहते हैं, तो हमें इन सब गहरे भिदे हुए संस्कारों के विरुद्ध खड़े होकर यह प्रचार करना होगा कि धर्म की साधना में तथा सामाजिक सुख-सुविधा की प्राप्ति में प्रत्येक मनुष्य का समान अधिकार है। यह ठीक है कि यह भावधारा लोगों को सहज ही ग्राह्य न होगी, काम उतना सरल नहीं है, परन्तु श्रीरामकृष्ण हमें इसी कठिन व्रत में तो दीक्षित कर गये हैं।[३]

श्रीमाँ के साथ आँटपुर की यात्रा

४ फरवरी, १८८९ को वराहनगर मठ से ही स्वामीजी प्रमदादास बाबू को लिखते हैं, "इस समय मैं अपने गुरुदेव की जन्मभूमि (कामारपुकुर) के दर्शनार्थ रवाना हो रहा हूँ। परन्तु कुछ ही दिनों में मैं आपकी सेवा में उपस्थित होऊँगा।"

स्वामी प्रेमानन्दजी की माता मातंगिनी देवी ने श्रीमाँ सारदा देवी तथा वराहनगर मठ के समस्त गुरुभाइयों को आँटपुर आकर उनका आतिथ्य ग्रहण करने का आमंत्रण दे रखा था।

मास्टर महाशय की डायरी के अनुसार श्रीमाँ ५ नवम्बर १८८८ को पुरी गयीं और १२ जनवरी १८८९ को दोपहर में १२ बजे वहाँ से लौटकर उनके घर में ठहरीं। उन्होंने लिखा है, "Ma's pilgrimage to Jagannath 5th November, 1888. Returns to our house Saturday at 12 noon, ... Ekadasi... 12th Jan, 1889."[४]

स्वामी गम्भीरानन्द जी बताते हैं, "पुरी से वे (श्रीमाँ) १२ जनवरी १८८९ ई. को कलकत्ता पहुँच एक भक्त के घर ठहरीं। दूसरे दिन उन्होंने नीमतला में गंगास्नान किया, और २२ जनवरी को कालीघाट में काली माता के दर्शन किए। इसके बाद ५ फरवरी को स्वामी विवेकानन्द, सारदानन्द, योगानन्द, प्रेमानन्द, मास्टर महाशय, सान्याल महाशय आदि अनेक भक्तों के साथ वे स्वामी प्रेमानन्द की जन्मभूमि आँटपुर गईं।[५]

ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य बताते हैं कि स्वामी योगानन्द, सदानन्द, अभेदानन्द, अद्भुतानन्द, निर्मलानन्द, मास्टर महाशय और लक्ष्मी देवी – श्रीमाँ के साथ गये थे और स्वामी विवेकानन्द, प्रेमानन्द और वैकुण्ठनाथ सान्याल वहाँ पहले से ही उपस्थित थे। माँ के दर्शन पाकर स्वामीजी अत्यन्त आनन्दित हुए। आँटपुर में एक सप्ताह रहकर माँ बैलगाड़ी से तारकेश्वर होकर कामारपुकुर लौटीं।"[६]

स्वामी अभेदानन्द अपनी बँगला आत्मकथा में बताते हैं कि माँ श्री सारदा देवी ने आँटपुर तथा कामारपुकुर होते हुए जयरामबाटी जाने का संकल्प किया। "तदनुसार ५ फरवरी को श्रीमाँ ने कलकत्ते से पहले आँटपुर के लिये पैदल यात्रा की। गोलाप-माँ, नरेन्द्रनाथ, शरत्, योगेन, बाबूराम, मैं, तुलसी, मास्टर महाशय, सान्याल तथा और भी अनेक लोग उनके साथ चले। श्रीमाँ ने आँटपुर में करीब एक सप्ताह निवास किया। बाबूराम के भ्राता तथा सगे-सम्बन्धियों ने श्रीमाँ तथा हम सभी का विशेष सेवा-सत्कार किया था। आँटपुर में एक सप्ताह बिताने के बाद श्रीमाँ और हम सभी ने कामारपुकुर की यात्रा की। उन दिनों तारकेश्वर होकर कामारपुकुर जाना ही सुविधाजनक था, अत: पहले हम लोग श्रीमाँ को साथ लेकर तारकेश्वर की ओर चल पड़े। तारकेश्वर पहुँचने पर स्टेशन के पास ही श्रीमाँ के लिये एक बैलगाड़ी मिल गयी। श्रीमाँ तथा गोलाप-माँ उस गाड़ी में और बाकी सभी लोग पैदल ही कामारपुकुर की ओर चल पड़े।" स्वामी शुद्धानन्दजी की डायरी के आधार पर स्वामी प्रभानन्द जी बताते हैं कि इस टोली में राखाल और सारदा (स्वामी त्रिगुणातीतानन्द) भी थे।[८]

इस यात्रा के सन्दर्भ में लक्ष्मीमणि देवी ने एक बड़े ही रोचक घटना का वर्णन किया है। हमारा अनुमान है कि यह घटना कलकत्ते में नहीं, बल्कि आँटपुर में हुई होगी। वे लिखती हैं, "हम लोग माँ के साथ पुरी से स्टीमर में कोलकाता लौटकर बलराम बाबू (वस्तुत: मास्टर महाशय) के मकान में ठहरे। वहाँ से हमारी आँटपुर होते हुए कामारपुकुर जाने की व्यवस्था हुई। उस समय स्वामीजी आदि भी वहीं थे। माँ को पाकर वे बड़े आनन्दित हुए। इसी बीच हम लोगों का सामान आ गया। उनमें बिस्तर का बण्डल काफी बड़ा था। उसे उतारते ही स्वामीजी बच्चों की भाँति खुश होकर उस पर घोड़े की तरह सवार हो गये और 'हट-हट' करते हुये अंग-भंगिमा के साथ मानो घोड़े को दौड़ाने लगे। माँ बालक का आनन्द देखकर खूब हँस रही थीं, आनन्दित हो रही थीं और इधर मेरी छाती घड़-घड़ करने लगी और आँखें तथा मुख भी फक्क हो गया। माँ मेरी अवस्था देखकर बोलीं, "लक्ष्मी को यह क्या हुआ?" मैंने कहा, "भैया को मना करो।" माँ बोलीं, "तुम्हीं कहो न" – और साथ ही भैया से बोलीं, "लक्ष्मी उतरने को कह रही है।" स्वामीजी तत्काल उतरकर बोले, "क्या हुआ दीदी? मुझे अच्छा घोड़ा मिला था।" मैं बोली, "उसमें मेरे जगन्नाथजी का चित्र है, टूट जायेगा।" स्वामीजी ने कहा, "तुम्हें पहले ही बताना था, तो क्या मैं चढ़ता?" यह कहकर उन्होंने भगवान जगन्नाथ के निमित्त प्रणाम किया। इससे हम लोगों को भी बड़ी खुशी हुई।"[९]

---

३. विवेकानन्द चरित, सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, नागपुर, सं.१९७१, पृ.१५५; **४.** माँ करुणामयी श्रीसारदा देवी, ब्र. अक्षयचैतन्य, नागपुर, प्र.सं. पृ. ८९-९० (पाद-टिप्पणी); **५.** श्रीमाँ सारदा देवी, कोलकाता, सं. २००७, पृ. १३३; **६.** माँ करुणामयी, पृ. ९०

७. आमार जीवनकथा (बँगला), सं. २००१, कलकत्ता, पृ. १३०-१; **८.** ब्रह्मानन्द चरित, नागपुर, प्रथम सं., पृ. ८६; **९.** श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते (बँगला), भाग ३, पृ. ४८६-८७ (हिन्दी अनुवाद – विवेक-ज्योति, अप्रैल २००७, पृ. १८८-८९)

श्रीरामकृष्ण-कथामृत की समीक्षा

आँटपुर में ही ७ फरवरी, १८८९ को स्वामीजी ने श्रीयुत महेन्द्रनाथ गुप्त (मास्टर महाशय) के नाम अंग्रेजी में एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पत्र लिखा था, जो इस प्रकार है –

"मास्टर महाशय, आपको लाखों धन्यवाद ! आपने रामकृष्ण को ठीक पकड़ा है । खेद है कि अति अल्प लोग ही उन्हें समझते हैं ! – आपका विवेकानन्द । पुनश्च – जो उपदेश भविष्य में संसार में शान्ति की वर्षा करनेवाले हैं, जब मैं किसी व्यक्ति को उनमें पूर्ण रूप से निमग्न पाता हूँ, तो मेरा हृदय आनन्द से उछलने लगता है । ऐसे समय मैं पागल नहीं हो जाता, यही आश्चर्य की बात है !"[१०]

डॉ. अभयचन्द्र भट्टाचार्य बताते हैं कि आँटपुर में मास्टर महाशय ने कथामृत का एक अंग्रेजी पाण्डुलिपि स्वामीजी को सुनाया था, जिसे सुनकर स्वामीजी ने उन्हें धन्यवाद का यह पत्र लिखा ।[११] परन्तु शंकरी प्रसाद बसु बताते हैं कि सम्भवत: स्वामीजी ने सच्चिदानन्द गीतरत्न द्वारा कई भागों में प्रकाशित 'परमहंस देवेर उक्ति' नामक पुस्तिका को पढ़कर वह पत्र लिखा था, जो महेन्द्रनाथ गुप्त की सहायता से संकलित हुआ था। १८९२ में प्रकाशित इसके तृतीय भाग (पृ. २०) में लिखा है, "यह साधु महेन्द्रनाथ गुप्त की कृपा से संग्रहित हुआ है ।"[१२] ये पुस्तिकाएँ अब पूरी तौर से लुप्त हो चुकी हैं, परन्तु अनुमान किया गया है कि सम्भवत: इसी पुस्तिका के पहले या दूसरे भाग को पढ़कर स्वामीजी ने अपने ७ फरवरी के पत्र में अपनी वह प्रतिक्रिया लिखी थी ।

स्वामीजी की वापसी यात्रा

सात दिन आँटपुर में बिताने के बाद पूरी टोली सम्भवत: १२ फरवरी को तारकेश्वर के मार्ग से कामारपुकुर के लिये रवाना हुई, पर रास्ते में स्वामीजी को सहसा बुखार आ गया और उन्हें उल्टी तथा दस्त होने के कारण बाबूराम (स्वामी प्रेमानन्द) उन्हें साथ लेकर आँटपुर लौट आए । वहाँ स्वास्थ्य में किंचित् सुधार होने पर वे वराहनगर मठ वापस आ गये और होम्योपैथिक चिकित्सा कराने लगे ।[१३] कुछ लोगों का मत है कि वे भी कामारपुकुर तक गये थे, पर अधिकांश तथ्य सूचित करते हैं कि उन्हें बीच से ही लौटना पड़ा था ।

सिमुलतला (बिहार) में कुछ दिन

वराहनगर मठ में आकर भी पूरी तौर से स्वस्थ न हो सके थे और उन्हें बीच-बीच में बुखार हो जाता । इसी कारण स्वास्थ्य-लाभ हेतु वे जून के अन्त में बिहार के एक ठण्डे स्थान – सिमुलतला जाकर कुछ दिनों तक रहे थे ।

४ जुलाई, १८८९ ई. को उन्होंने वाराणसी के प्रमदादास मित्र के नाम अपने एक पत्र में लिखा है, "मेरे पूर्वाश्रम के एक सम्बन्धी ने (वैद्यनाथ के पास स्थित) सिमुलतला में एक बँगला खरीदा है । स्थान स्वास्थ्यकर होने के कारण मैं कुछ दिन वहाँ ठहरा था । परन्तु ग्रीष्म की भयंकर गरमी के कारण मुझे दस्त की बीमारी हुई और मैं वहाँ से भी लौट आया ।"

प्रयाग में कल्पवास

इसके बाद स्वामीजी ने दिसम्बर (१८८९) के अन्तिम सप्ताह में प्रयाग पहुँचने के बाद २२ जनवरी (१८९०) को गाजीपुर पहुँचने के पूर्व तक स्वामीजी ने लगभग तीन सप्ताह वहाँ बिताये थे । स्वामीजी के इस इलाहाबाद-प्रवास का विवरण विवेक-ज्योति २०१० ई. के सितम्बर तथा अक्तूबर (पृ. ४२३-२६ तथा ४७५-७८) अंकों में प्रकाशित किया जा चुका है । वहाँ हम बता आये हैं कि २१ या २२ जनवरी को स्वामीजी इलाहाबाद से गाजीपुर के लिये चल पड़े । ... काफी काल से स्वामीजी के मन में वाराणसी जाकर बाबा विश्वनाथ तथा माता अन्नपूर्णा का दर्शन करने की इच्छा अत्यन्त प्रबल थी, परन्तु वे सहसा ही गाजीपुर जा पहुँचे । यह कैसे हुआ?... श्रीश चन्द्र बसु गाजीपुर के मुंशिफ थे और इलाहाबाद में वे स्वामीजी से बड़े घनिष्ठ रूप से मिले थे । सम्भव है उन्हीं से सम्पर्क के कारण स्वामीजी के मन में काफी काल से सुप्त 'पवहारी बाबा' के दर्शन करने की इच्छा पुन: जाग उठी हो । अत: स्वामी योगानन्द जी की बीमारी को निमित्त बनाकर दो ऐतिहासिक घटनाएँ हुईं – स्वामीजी का प्रयाग तथा गाजीपुर जाना तथा उन स्थानों में सुदीर्घ प्रवास ।

❖ (क्रमश:) ❖

१०. पत्रावली, स्वामी विवेकानन्द, नागपुर, सं. १९९९, पृ. ४; **११.** श्रीमर जीवन-दर्शन (बँगला), डॉ. अभयचन्द्र भट्टाचार्य, सं. १९९०, पृ. ३२१ तथा ४००; **१२.** स्वामी विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष, कोलकाता, द्वितीय खण्ड, प्रथम सं., पृ. २७४-७५;

१३. युगनायक विवेकानन्द, भाग १, पृ.२१६ और ब्रह्मानन्द चरित, स्वामी प्रभानन्द, पृ. ८६ (पर पाद-टिप्पणी में स्वामी शुद्धानन्द की डायरी का सन्दर्भ दिया गया है ।), बँगला ग्रन्थ 'श्रीम-कथा' (खण्ड १, पृ. २३५) में भी उनके कामारपुकुर न पहुँच पाने की बात कही गयी है ।
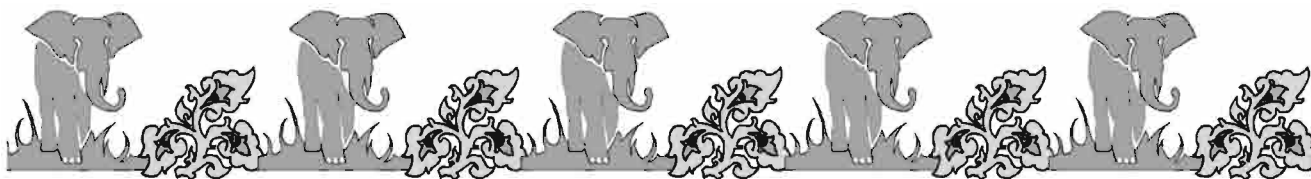
स्वामी अचलानन्द (६)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

केदार बाबा की शिक्षा देने की प्रणाली भी उनकी स्वभाव-सिद्ध माधुर्य तथा प्रीति से परिपूर्ण थी। उनके मुख से 'भाई' का सम्बोधन सुनकर किसी के लिये भी उनसे दूर चले जाना सहज नहीं था। नवीन साधुओं से वे कहते, "देखो भाई, सर्वदा विवेक-वैराग्य को जगाये रखना। पहले तुम घर में थे, वहाँ से अपने माँ-बाप और सगे-सम्बन्धियों को रुलाकर यहाँ क्यों आये हो? ईश्वर को पाने के लिये ही न? इसलिये अब यदि उन्हें पाने की चेष्टा न करो, तो यहाँ आने से लाभ क्या हुआ? यहाँ जैसे दु:ख-कष्ट हैं, संसार में भी वैसे ही दु:ख-कष्ट हैं। तो फिर अन्तर क्या है? अन्तर यह है – संसार में अनित्य विषयों के कारण सुख-दु:ख होता है, जबकि यहाँ नित्य वस्तु के लिये होता है। जब दु:ख-कष्टों का भोग करना ही है, तो अनित्य विषयों के स्थान पर नित्य वस्तु के लिये ही करना अच्छा है।" फिर तरुण साधुओं में वैराग्य की शिथिलता देखने पर उन्हें आक्षेपपूर्वक कहते हुए सुना जाता था, "अच्छा है, ये लोग ग्रैंड ट्रंक रोड को पकड़कर सीधे भगवान को पा लेना चाहते हैं। जबकि महापुरुष और शास्त्रकार लोग कह गये हैं कि रास्ता अत्यन्त कठिन और छुरे की धार के समान है। शशी महाराज कहते थे, 'धर्मराज्य का मार्ग कैसा है, जानते हो? जैसे केदार-बदरी जाते समय चढ़ाई-उतराई से होकर जाना पड़ता है, यह रास्ता भी वैसा ही है। उत्तरोत्तर कठिन से कठिनतर होता जाता है। यह बिल्कुल सीधा रास्ता नहीं है। भयंकर संघर्ष करना पड़ता है।' स्वामीजी महाराज कहते थे, 'संघर्ष ही जीवन है।' जहाँ संघर्ष है, वहीं चेतना की अभिव्यक्ति है। परन्तु हम लोग सुविधा का जीवन चाहते हैं – खूब आराम से चलना चाहते हैं।"

काशी के सेवाश्रम के तरुण साधु-सेवकों में से किसी के साथ भेंट होते ही वे उसके सेवा आदि कर्मों की खोज-खबर तो लेते ही थे, साथ ही वे उन्हें अपने ध्यान-भजन पर भी तीक्ष्ण दृष्टि रखने का उपदेश देते थे। वे प्राय: ही कहा करते, "भाई, मेरा बोतल तो मकरध्वज तैयार होने के पहले ही टूट कर चकनाचूर हो गया। परन्तु भाई, तुम लोग कमर कसकर काम में लग जाओ।"

वर्तमान सेवाश्रम के एक बड़े पुराने संन्यासी सेवक ने अपने अतीत की स्मृतियों का वर्णन करते हुए कहा था –

"मैं केदार बाबा को प्रणाम करने गया था – एक अन्य सहकर्मी नवागत साधु भी साथ में थे। हमारे सामने जाकर खड़े होते ही उन्होंने पूछा, 'आओ! आज कितने नारायण आये? तुमने उनकी क्या सेवा की, बताओ?' मैंने हाथ जोड़कर निवेदन किया, 'महाराज, आज चार नारायण भर्ती हुए हैं।' मैंने यह भी बताया कि उनमें से किसको क्या रोग है। इसके बाद मेरे साथ के साधु ने बताया, 'मेरे वार्ड में दो रोगी आये हैं।' मैंने देखा कि मेरे मित्र की बात सुनते ही केदार बाबा गम्भीर हो गये – उस पर एक शब्द भी नहीं कहा। थोड़ी देर बाद वे मेरी ओर देखते हुए बोले, 'तुम लोग खूब भाव के साथ सेवा करना। इससे तुम्हारा अपना कल्याण होगा और जिसकी सेवा कर रहे हो, उसका भी होगा। तुम सोचना कि नारायण की सेवा कर रहे हो। और तुम जिसकी सेवा करते हो, वह सोचेगा – भगवान ने मेरे लिये भी व्यवस्था कर रखी है – मेरी देखभाल के लिये भी भगवान ने किसी को नियुक्त कर रखा है। वह मन-ही-मन कहेगा – हे भगवान, तुम मुझे भी देख रहे हो!... सेवा नारायण-ज्ञान से करना। मुख से कहते-कहते ही भाव आयेगा। तुम लोग वैसा ही बोलना। नये लड़कों को भी वैसे ही बोलना सिखाना।'

"और खूब पूछताछ करते – 'तुम कब बैठ सकते हो? कितनी देर तक भगवान का चिन्तन कर सकते हो?'

"केदार बाबा प्राय: याद दिला देते, 'जब भी समय मिले, तभी बैठ जाना और भगवान का नाम लेना। भगवान के नाम का जप, उनका ध्यान और उन्हीं की नारायण-मूर्ति की सेवा – इन दोनों साधनों को समान भाव से बनाये रखना।' "

उनका वैशिष्ट्यपूर्ण दृष्टिकोण या विचार-प्रणाली भी खूब ध्यान देने की चीज थी। प्राय: देखने में आता है कि व्यक्ति जिस किसी के प्रति श्रद्धा रखता है, उसे एक ही साँस में पृथ्वी के किसी भी महापुरुष के समतुल्य बताने लगता है। किसी महापुरुष या शास्त्र के उद्धरणों की अपने भाव के अनुसार व्याख्या करके अथवा उन वाक्यों के आगे-पीछे का सन्दर्भ न देखकर, अपनी तृप्ति के अनुसार उनकी व्याख्या करके हम सर्वदा ही एक तरह के आत्म-प्रसाद का अनुभव किया करते हैं। परन्तु अचलानन्द जी को इस तरह का अभ्यास पसन्द नहीं था। १९३९ ई. में, जब वे पुरी में थे,

तो एक दिन सुबह वहाँ के किसी विशिष्ट साधु के परलोक-गमन पर चर्चा चल रही थी। उपस्थित साधु-ब्रह्मचारियों के साथ विविध विषयों के साथ ही वे महापुरुषों के देहत्याग के समय की अवस्थाओं के विषय में भी बहुत-सी बातें कह रहे थे। अन्त में एक व्यक्ति की ओर उन्मुख होकर उस दिन उन्होंने कई मूल्यवान बातें कही थीं, "इस कारण यदि तुम उस साधु के साथ महापुरुषों की तुलना करो, तो यह अनुचित होगा। तुलना करना उचित नहीं है। एक दिन ज्ञानेश्वर हरि महाराज के सामने स्वामीजी और महाराज की तुलना करते हुए बोला, 'स्वामीजी ने स्वयं ही कहा था – आध्यात्मिकता में राखाल हम सभी लोगों से बड़ा है।' इसीलिये ज्ञानेश्वर ने कहा – महाराज बड़े थे। हरि महाराज यह सुनकर उसे डाँटते हुए बोले, 'सावधान, फिर कभी इस तरह की तुलना मत करना। स्वामीजी ने किस भाव से क्या कहा है, इसे जाने बिना ऐसी बातें कभी मत करना।' ... स्वामीजी सभी को बड़ा करके देखते थे। बड़े वृक्ष की छाया में छोटे वृक्षों का विकास नहीं होता, परन्तु वे स्वयं ही किनारे हटकर दूसरों को बड़ा बना देते। हरि महाराज जब अमेरिका में थे, तो वे अपने हर पत्र में स्वामीजी को लिखते – किस प्रकार क्या-क्या करूँ? आदि आदि। उत्तर में स्वामीजी ने लिखा था, 'हरि भाई, तुम जो भी अच्छा समझो, वही किये जाओ। इसके बाद से मुझसे कुछ भी मत पूछना। अन्यथा तुम्हारा अपना विकास नहीं होगा।' "

हर विषय में केदार बाबा का अपना एक स्वतंत्र दृष्टिकोण था। इस विषय में और भी दो-एक उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा। उनकी दृष्टि की आभा से मानो अन्य लोगों के नेत्रों में भी ज्योति प्रकट हो जाती थी। एक साधु को हाल ही में मठ का हिसाब-किताब रखने के कार्य में नियुक्त किया गया था। उन साधु के प्रति केदार बाबा का विशेष स्नेहभाव था। उन्होंने उसे उत्साहित करते हुए विनोदपूर्वक लिखा था, "एक बात तुम्हें लिखी नहीं गयी – यह बात मन में आयी है इसलिये लिख रहा हूँ। तुम्हारे हाथों में धनयश है, इसीलिये ठाकुर के इस विराट् संघ के हिसाब-किताब रखने का भार व्यावहारिक रूप से तुम्हारे ही हाथों में आ पड़ा है। अब यदि तुम्हारे ही हाथों से श्रीमन्दिर का ऋण शोध हो जाय, तभी समझूँगा कि तुम धनयश में 'सिद्ध' हो। तुम जो कार्य कर रहे हो, यह एक बहुत बड़ी साधना है – इस बात को मैं अपने प्राणों में भलीभाँति अनुभव करता हूँ। इसके माध्यम से भी तुम उनकी अपार कृपा प्राप्त करोगे।" संघ का प्रत्येक कार्य ठाकुर की सेवा है – यह भाव वे कितने सुन्दर तथा सरस रूप से दूसरों के हृदय में अंकित कर देते थे! श्रीरामकृष्ण के मन्दिर के निर्माण हेतु मठ को उस समय जिस विपुल ऋण का भार वहन करना पड़ रहा था, उसके लिये उपाध्यक्ष अचलानन्द जी की चिन्ता का अन्त न था। फिर उस ऋण को चुकाने के मामले में किसी भी प्रकार की थोड़ी-सी भी सहायता कर पाने को वे भगवान की पूजा ही समझते थे। उनके व्यक्तिगत औषधि-पथ्यादि का खर्च चलाने के लिये यदि कोई प्रीतिपूर्वक उन्हें थोड़ा भी धन प्रदान करता, तो वे उसमें से नियमित रूप से कुछ भाग मन्दिर के ऋण-शोधन हेतु मठ में भेज देते थे। इस धन भेजने में भी उनके हृदय की श्रद्धा तथा दीनता का भाव लक्षणीय है। जो साधु बेलूड़ मठ का हिसाब-किताब देखते थे, उन्हें एक बार (१९/५/१९४४ को) उन्होंने काशी से लिखा था, "श्री स्वामीजी द्वारा कल्पित, उनके द्वारा आकांक्षित ठाकुर का मन्दिर – उनकी सेवा में मैं अपनी व्यक्तिगत क्षमता के अनुसार 'विदुर का साग' अर्पित करके तृप्त होना चाहता हूँ। इसीलिये यह रुपया भेज रहा हूँ।" ये बातें बड़ी छोटी-छोटी हैं – घटनाएँ भी सामान्य दृष्टि से देखें तो कुछ विशेष नहीं हैं; परन्तु आध्यात्मिक माधुर्य की दृष्टि से ये अत्यन्त मनोरम हैं।

अचलानन्द जी के वार्धक्य-जीर्ण शरीर ने उनके जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष बड़ा ही कष्टभोग किया था। वे देह से मुक्ति पाने के लिये भी काफी व्याकुल थे। संघगुरु को वे अपने गुरुदेव की ही प्रतिमा मानते थे – इस बात का हम पहले ही उल्लेख कर आये हैं। इसीलिये वे विरजानन्द महाराज से सर्वदा 'छुट्टी' के लिये प्रार्थना किया करते थे। काशी में एक बार एक अत्यन्त मार्मिक दृश्य दीख पड़ा था। विरजानन्द जी उस समय काशी सेवाश्रम के अम्बिका-धाम में ठहरे हुए थे। केदार बाबा ने मठाधीश महाराज का दर्शन करने के लिये अपनी शान्त-धीर चाल में अत्यन्त विनयपूर्वक उनके कमरे में प्रवेश किया। "आओ, केदार बाबा, आओ" – कहकर विरजानन्द जी के स्वागत करते ही, केदार बाबा ने भक्तिभाव के साथ उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। काफी देर तक प्रणाम करने के बाद सावधानीपूर्वक उठकर घुटने के बल बैठे हुए ही उन्होंने हाथ जोड़कर संघगुरु से यह प्रार्थना की, "इस जीर्ण शरीर का अब वहन नहीं कर पा रहा हूँ। आपकी कृपा हो, तो मुझे अभी छुट्टी मिल जाय।" विरजानन्द जी शान्त-मधुर भाषा में अपने प्रिय गुरुभ्राता को कितने ही प्रकार से सांत्वना देने लगे, "देखो, केदार बाबा, ठाकुर-माँ-स्वामीजी – इनकी इच्छा पूर्ण होने में ही तो हमारा मंगल है।" आदि आदि। केदार बाबा के दोनों कपोलों से होकर आँसू बहे जा रहे थे और तब भी वे अपनी कातर प्रार्थना किये जा रहे थे, "वह तो मैं नहीं समझता। आपकी इच्छा और उनकी इच्छा पृथक नहीं हैं। आपके कहने पर मेरी छुट्टी हो सकती है। यह टूटा हुआ शरीर अब और नहीं चल रहा है। आप कृपा कीजिये।" यह स्वर्गीय दृश्य जिन्हें देखने का सौभाग्य मिला

१. यह पत्र वाराणसी से दिनांक ३/९/१९३९ को लिखा गया था।

था, वे ही समझ सके थे कि लगता है केदार बाबा द्वारा आकांक्षित 'छुट्टी' में अब अधिक विलम्ब नहीं है। उस समय निश्चय ही अपने प्रियजन के वियोग की आशंका से सबकी छाती धड़क उठी थी। १९४६ ई. के अप्रैल में उन्होंने किसी को एक पत्र में लिखा था, "मठ में जाना नहीं हो सका और कभी जाने की आशा भी नहीं है। बाकी के कुछ दिन विश्वनाथ के दरबार में बिताकर ही धन्य हो जाऊँगा।"

जितने ही दिन बीतने लगे, केदार बाबा का स्वास्थ्य भी उतना ही बिगड़ने लगा। क्रमश: दमा तथा अन्य वार्धक्य-सुलभ रोग एक-पर-एक आकर उनके शरीर को आक्रान्त करने लगे। १९४७ ई. के मार्च में विरजानन्द जी बेलूड़ मठ में थे। केदार बाबा की अस्वस्थता का समाचार काशी से क्रमश: चारों ओर फैलने लगा। चिकित्सकों तथा वैद्यों की आप्राण चेष्टा के बावजूद उनके भग्न शरीर को जरा भी राहत नहीं मिल पा रही थी। ११ मार्च का दिन था। उधर मठ में विरजानन्द जी ने प्रात:काल जलपान करते हुए सहसा अपने सीने में एक तरह की पीड़ा का अनुभव किया। दोपहर तक काशी के सेवाश्रम से दु:संवाद आ पहुँचा – सुबह ८ बजकर २५ मिनट पर स्वामी अचलानन्द जी महासमाधि में लीन हो गये हैं। प्रयाण के समय उनकी आयु लगभग ७१ वर्ष थी। विरजानन्द जी की दैनन्दिनी में (११ मार्च १९४७ को) लिखा हुआ है, "दोपहर को टेलीग्राम से समाचार मिला कि केदार बाबा ने आज सुबह ८-२५ बजे देहत्याग कर दिया है। ठीक उसी समय मैंने अपने सीने में एक तरह की पीड़ा का अनुभव किया था और उस समय लगा था कि केदार बाबा चले गये।"

केदार बाबा चले गये थे! परन्तु कहाँ गये थे – यह बात हमारे लिये अज्ञात होने पर भी उनके स्वयं के लिये चिर-ज्ञात था। एक बार एक तरुण साधु ने उनसे नि:संकोच भाव से पूछा था, "महाराज, मरने के बाद आप कहाँ जायेंगे?" केदार बाबा ने क्षण भर भी विलम्ब किये बिना तत्काल उत्तर दिया था, "श्रीरामकृष्ण के पास से आया हूँ – श्रीरामकृष्ण के पास चला जाऊँगा।"

केदार बाबा के तिरोधान से श्रीरामकृष्ण संघ के नवीन साधु-ब्रह्मचारी और अध्यात्म-जिज्ञासु लोग एक ज्वलन्त उदाहरण से वंचित हो गये। जीवन-गठन के इच्छुक युवकों ने अपना एक उत्साहदाता घनिष्ठ मित्र खो दिया। जीवन के अन्तिम भाग में (१६/४/४४) किसी साधु को एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "तुमने लिखा है कि मेरे मठ में जाने से कितने ही लोगों का कल्याण होगा, आदि। कल्याण जो करने वाले हैं, वे देख रहे हैं।... परन्तु मुझे अब यह बात अच्छी लगती है कि यदि कोई सचमुच ही जीवन-गठन करना चाहता है, तो मैं उसके साथ अपने हृदय से बातें करता हूँ और आनन्द पाता हूँ। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि शुष्क प्रणाम और देखने-सुनने मात्र में कुछ नहीं रखा है। जो आध्यात्मिकता इस संघ की रीढ़ के समान है, उसे दृढ़तापूर्वक सबल बनाये रखने की जरूरत है – इस ओर ध्यान न देने से भविष्य अन्धकारमय है। प्रभु की इच्छा ही पूर्ण हो रही है और होगी।" ब्रह्मलीन अचलानन्दजी की इन कुछ बातों का स्मरण करने से ही हमें उनके जीवन्त सान्निध्य का अनुभव होता है।

केदार बाबा अनेक लोगों के जीवन को उद्दीपित कर गये हैं – अनेक लोगों के मन को भक्ति-विश्वास तथा त्याग-वैराग्य से रंजित कर गये हैं। इसलिये स्वाभाविक रूप से ही मन में यह कुतूहल उत्पन्न होता है कि जिस अग्निशिखा के स्पर्श से इतने सारे दीपक जले थे, उस शिखा का अपना तेज और दीप्ति कितनी थी! इस कुतूहल की निवृत्ति करने की क्षमता हममें नहीं है। तथापि उनकी व्यक्तिगत दिनलिपि के दो छोटे पृष्ठों से उनके अपने हाथों से लिखित दो-एक पंक्तियाँ उद्धृत करके इस लेख का उपसंहार करेंगे –

"पिछले जन्मों में और इस जीवन में भी जो कुछ घटित हो रहा है और घटित होगा, वह सब श्रीप्रभु की ही माया का खेल है अर्थात् उनकी त्रिगुणात्मिका शक्ति का खेल है। इस बात का प्रभु ने आज दृढ़तापूर्वक बोध करा दिया।"...

"आज यह क्षुद्र 'मैं' श्रीप्रभु के चरणों में पूरी तौर से लय हो गया। उन्हीं की इच्छा पूर्ण हुई है, हो रही है और होगी। वे ही सब कुछ हैं – सब कुछ वे ही हैं।" ❖ **(समाप्त)** ❖

निष्काम कर्म का उद्देश्य

निष्काम कर्म एक उपाय है – उद्देश्य नहीं, जीवन का उद्देश्य है ईश्वर-प्राप्ति। कर्म आदिकाण्ड है – वह उद्देश्य नहीं हो सकता। कर्म को जीवन का सर्वस्व मत समझो। ईश्वर से भक्ति के लिए प्रार्थना करो। यदि सौभाग्यवश भगवान तुम्हारे सामने प्रकट हो जाएँ, तो क्या तुम उनसे अस्पताल-दवाखाने, कुएँ-तालाब, सड़क, धर्मशालाएँ – इन्हीं सब के लिए प्रार्थना करोगे? नहीं, ये सब चीजें तभी तक सत्य प्रतीत होती हैं, जब तक भगवान के दर्शन नहीं होते। एक बार उनके दर्शन हो जाएँ तो ये सब स्वप्नवत्, अनित्य असार लगने लगते हैं। तब साधक उनसे केवल ज्ञान और भक्ति की ही प्रार्थना करता है। – ***श्रीरामकृष्ण***

कर्मयोग – एक चिन्तन (१८)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

श्रेष्ठ आचरण से व्यक्ति श्रेष्ठ बनता है। इसका अभिमान नहीं करना चाहिए। किन्तु संसार में साधारणत: नीच-से-नीच व्यक्ति भी श्रेष्ठ व्यक्ति का सम्मान करता है। वह स्वयं उस प्रकार का आचरण न कर पाये, किन्तु श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति उसके मन में सम्मान होता है। कैसे? चोरों का एक उदाहरण आपको बताता हूँ।

एक बार दस चोरों ने मिलकर किसी को धोखा देकर चोरी की। चोरी करके दूसरे दिन आपस में बँटवारे के लिये एक जगह एकत्रित हुए। कितना धन चुराया देखा और उसे आपस में बँटवारा करने लगे। चोर जब आपस में बँटवारा करते हैं, तो बीस आने ईमानदारी से उसका बँटवारा करते हैं। वहाँ वे इमानदारी को पकड़े होते हैं। चोरी करते समय वे सत्य को नहीं पकड़ते हैं, बेइमानी करते हैं, किन्तु जब आपस में बँटवारे का प्रसंग आया, तब उन्होंने सत्य को पकड़ लिया। चोर या डाकू लोगों का जो नेता होता है, उसके पास चोरी का धन सब चोर जमा करते हैं, फिर वह नेता उसका बँटवारा करता है। चोरों की दृष्टि में वह ईमानदार है। चोरों को भी ईमानदार की आवश्यकता पड़ती है और चोर उसे अपना विश्वसनीय मानता है।

इसी प्रकार जब हम सदाचरण करते हैं, जीवन में चरित्रवान बनने का प्रयत्न करते हैं, तो उसी आचरण को देखकर दूसरे लोग भी उससे सीखकर वैसा आचरण करते हैं। इस प्रकार हमारे ऊपर यह बहुत बड़ा दायित्व है।

अब २५वां श्लोक हम देखते हैं। उसका भाव स्मरण रखें।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।३/२५

अर्थात् हे अर्जुन (हे भारत), कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी जन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् तत्त्वज्ञ महापुरुष भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।

जैसा एक संसारी व्यक्ति संसार में डूबकर कर्म करता है, वैसे ही तुझे मन-प्राण एक करके अनासक्त होकर, यह कर्म करना है। चिकीर्षु अर्थात् कामना, इच्छा। क्या कामना? तो लोकसंग्रह चिकीर्षु – लोक कल्याण की इच्छा। हमें क्या करना चाहिये? हमें संसार में डूबे हुए लोगों के सामान लोककल्याण की कामना से सतत् अच्छी तरह से अवश्य कर्तव्य-कर्म करना चाहिए?

हमें यह भावना रखनी चाहिए कि मेरे इस कर्म से लोक कल्याण होगा, लोकशिक्षा होगी। इससे लोग सीखेंगे कि किसी प्रकार के आदान-प्रदान की इच्छा न रखकर निस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए।

प्रवचन तीसरा

वन्दनीया माताओं एवं सुहृद भक्त वृन्द !

आप सबको मेरा सादर प्रणाम। ईश्वर की विशेष अनुकम्पा से इस वर्ष पुन: यह अवसर उपस्थित हुआ है कि हम गीता के माध्यम से कर्मयोग पर थोड़ा विचार करें। गतवर्ष आप लोगों की सेवा में मैं उपस्थित हुआ था।

गीता का तृतीय अध्याय कर्मयोग कहा जाता है। यद्यपि कर्मयोग का बीज द्वितीय अध्याय में है और उसका ही विस्तार तीसरे और चौथे अध्याय में है। कर्मयोग के बारे में अर्जुन को बताते हुये भगवान द्वितीय अध्याय में कहते हैं –

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। २-४७

– हे अर्जुन ! केवल कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में नहीं। इसलिये तुम कर्मफल के प्रति आसक्त मत होओ और तुम्हें अकर्मण्य भी नहीं होना चाहिये। यह मूल सूत्र है। लोकमान्य तिलक की भाषा में यह कर्मयोग की चतु:सूत्री है। यह मनुष्य-जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है, जिससे मनुष्य हट नहीं सकता है। तृतीय अध्याय में भगवान ने स्पष्ट कहा है –

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।३-५।

– हे अर्जुन ! इस विश्व-ब्रह्माण में कोई भी, एक क्षण के लिए भी, किसी भी काल में बिना कर्म के नहीं रह सकता है। कर्म करना हमारी विवशता है। यदि कर्म करना हमारा बंधन का कारण है, तो यही हमारे मुक्ति का कारण भी हो सकता है। (इस विषय पर गतवर्ष चर्चा प्रारम्भ हुई थी।)

सर्वप्रथम मैं आपसे यह निवेदन करूँ कि भगवद्गीता का आदर्श है 'जीवन्मुक्ति'।

मरने के बाद में हमारी मुक्ति होगी या नहीं, परलोक में या दूसरे लोक में हम जायेंगे या नहीं, ये बातें भी गीता को स्वीकार्य हैं, गीता इनको मानती है, किन्तु गीता का आदर्श परलोक-गमन, स्वर्ग नहीं है। गीता तो कहती है कि इसी लोक में, इसी अवस्था में यही और अभी जीवनमुक्ति है –

ईहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।५-१९

– इसी लोक में जिसने अपने मन को समता में स्थिर कर लिया है, उसने विश्व को जीत लिया, बाहर और भीतर के ब्रह्मांड को जीत लिया। इस प्रकार गीता का आदर्श 'समता में प्रतिष्ठित होना है, जो स्थितप्रज्ञ के दर्शन में, सतरहवें श्लोक में विशेष रूप से वर्णित है।

जो व्यक्ति बाह्य और अंतर प्रकृति के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होकर सर्वत: अछूता रहकर जीवन व्यतीत करता है, वही गीता का आदर्श पुरुष है, गीता का लक्ष्य यही है। इसी जीवन में हमको समता की प्राप्ति हो जाए, किसी भी परिस्थिति में हम विचलित न हों, और न ही कुछ प्राप्ति की आकांक्षा रह जाए।

गीता के इस आर्दश की चर्चा आपके सामने इसलिये कर रहा हूँ, कि हमारे जीवन में इसका विकल्प नहीं है। संसार में बहुत सी वस्तुओं के विकल्प हैं। आप तरह-तरह के कपड़े पहन सकते हैं। सूती या सिल्क के कपड़े पहन सकते हैं। ठंड देश में लोग गरम कपड़े पहन सकते हैं। चमड़े के भी वस्त्र पहनते हैं – तो कपड़े पहनने में बहुत से विकल्प हैं। भोजन में भी बहुत से विकल्प हैं। किन्तु जैसे भोजन में बहुत सी वस्तुओं का विकल्प रहते हुये भी नमक का कोई विकल्प नहीं है। मिठास के बहुत विकल्प हैं, जैसे आप शहद खा लें, गुड़ खा लें, शक्कर खा ले, किन्तु नमक का कोई विकल्प नहीं है। उसी प्रकार यदि मनुष्य-जीवन को सार्थक करना हो, गीता के बताये गये उपायों के अतिरिक्त और कोई भी उपाय नहीं है। हम सभी अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहते हैं, कौन ऐसा है, जो चाहता है कि हमारा जीवन व्यर्थ हो जाए, किसी काम का नहीं रह जाय, – ऐसा कोई भी नहीं चाहता है। हम सब अपने जीवन को, सार्थक करना चाहते हैं। इसलिये हमें गीता माता के बताये गये मार्ग का अनुसरण करना होगा।

गीता से भी बहुत पूर्व और आज से पाँच-सात हजारों वर्ष पूर्व, लोगों ने इसका भिन्न विकल्प प्राप्त करने का प्रयास किया। कुछ लोगों ने धन, मान, सत्ता विभिन्न संसार के सुखों में, जीवन में स्थायी सुख और शान्ति पाने का प्रयास किया। किन्तु वे लोग सफल नहीं हो सके। उन लोगों की चर्चा न करते हुए, हम अपनी ओर देखें।

मैंने आपसे निवेदन किया था कि गीता पर हम व्यावहारिक दृष्टि से विचार करेंगे। आप मुझसे पांडित्य की आशा मत रखिए। मैंने महापुरुषों के चरणों में बैठकर जो सुना है, उनकी लेखनी से लिखे हुए साहित्यों में जो पढ़ा है, और जो हमारे जीवन में परिवर्तन घटाने में समर्थ है, जिससे हम कुछ समझ सकते हैं, उन्हीं की चर्चा मैं करूँगा। सिद्धान्तों को मान लेना एक बात है, किन्तु जानना एक दूसरी बात है। मानते तो सभी हैं, करोड़ों लोग इस देश में हैं, जो गीता को मानते हैं, पर गीता को जानने वाले लोग ऊँगलियों में गिने जा सकते हैं। जिसको हम जानते हैं, अनुभव करते हैं, उसी से हमारे जीवन में परिवर्तन आता है। जिसको हम केवल मानते हैं, उससे स्थायी परिवर्तन नहीं आता, थोड़ा बहुत परिवर्तन आ सकता है। भगवान श्रीरामकृष्णदेव का प्रसिद्ध उदाहरण है – एक व्यक्ति ने दूध को देखा, दूसरे ने दूध का स्पर्श किया और तीसरे ने दूध को चखा, तो जिन्होंने देखा, स्पर्श किया, वे दूध को मानते हैं। सब लोगों ने कहा कि दूध सफेद होता है, तरल होता है। किन्तु दूध को वही व्यक्ति जानता है, जिसने दूध को चखा है। इस चखने का नाम ही अनुभूति है। गीता हमको यही कहती है, गीता के उपदेशों का पालन करने से, तुम इसी जीवन में एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकोगे कि तुम्हारे जीवन में परमशान्ति का अनुभव हो जायेगा। वह स्थिति कैसी है? –

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ।। ६-२२

भगवान अर्जुन से कहते हैं कि जिसको पाकर तुम्हें संतुष्टि हो जायेगी। इहलोक में, परलोक में, त्रिभुवन में ऐसी कोई वस्तु, ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जिसको पाने की आकांक्षा तेरे में रह जाये। तुम्हें पूर्ण तृप्ति हो जायेगी, मैंने सब कुछ पा लिया है। उसको पाने के बाद व्यक्ति किसी दूसरे लाभ को उससे अधिक नहीं मानता है। किन्तु जीवन का एक दूसरा भी पक्ष है दु:ख। संपन्न से संपन्न व्यक्ति को भी दु:ख होना संभव है। जैसे घर, मकान, पति, पत्नी, सम्मान, धन, – वह जो चाहता था, सब मिल गया। लगता है – हाँ भई, वे बड़े सुख से हैं। किन्तु जीवन में दु:ख के प्रसंग आते हैं और ये प्रत्येक के जीवन में आते हैं। हम सब जो यहाँ बैठे हैं, अगर हम अपने जीवन में आये सुख और दु:ख की सूची बनायें, तो आप पायेंगे कि हमारे जीवन में दु:ख की सूची, सुख की तुलना में बहुत बड़ी होगी। सब कुछ संपन्नता आने के बाद भी जीवन में दु:ख आता है।

आज सुबह जब आप उठें, तो आप अपनी छाती पर हाथ रखकर सोचें, तो पायेंगे कि सुख की तुलना में दु:ख अधिक ही आता है। मान लीजिये आप सुबह उठे, तो सोचा था कि पत्नी हलवा बनायेंगी। किन्तु सामने प्लेट में देखा, तो उपमा है। उसमें नमक है। अब है तो वही सूजी, किन्तु मन में हलुवा खाने की इच्छा थी। आप सोचे थे कि अरे हलुआ खाने को मिलेगा, किन्तु मिला उपमा। उसे देखकर दु:ख हुआ कि नहीं? वैसे प्रत्येक क्षेत्र में, आज के जीवन में यदि हम देखेंगे, तो यही पायेंगे।

यह अनुभव करके ही तो भगवान बुद्ध ने घोषणा कर दी है – 'सर्वम् दु:खम् – सब कुछ दु:खमय है।

❖ (क्रमशः) ❖

कठोपनिषद्- भाष्य (३०)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

कथं तत्-भयात् जगत् वर्तते इति आह –

उसके भय से जगत् कैसे कार्यरत रहता है, यह बताते हैं –

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।। २/३/३

अन्वयार्थ – **अस्य** इस परमात्मा के **भयात्** भय से **अग्निः** अग्नि **तपति** तपती है, (इसी के) **भयात्** भय से **सूर्यः** सूर्य **तपति** तपता है, (इसी के) **भयात्** भय से **इन्द्रः च** इन्द्र और **वायुः च** वायु और **पञ्चमः** पंचम-स्थानीय **मृत्युः** यमराज **धावति** दौड़ते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्य में लगे रहते हैं।

भावार्थ – इस परमात्मा के भय से अग्नि तपती है, (इसी के) भय से सूर्य तपता है, (इसी के) भय से इन्द्र और वायु और पंचम-स्थानीय यमराज दौड़ते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्य में लगे रहते हैं।

भाष्यम् – भयात् भीत्या परमेश्वरस्य-अग्निः तपति भयात्तपति सूर्यः भयात् इन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। न हि ईश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेत् वज्र-उद्यतकरवत् न स्यात् स्वामि-भय-भीतानाम् इव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिः उपपद्यते ।। २/३/३ (१०४)

भाष्य-अनुवाद – उस परमेश्वर के भय से अग्नि जलता है, उसी के भय से सूर्य तपता है और उसी के भय से इन्द्र, वायु तथा पाँचवें यम भी दौड़ते हैं। क्योंकि यदि शासन करनेवाले इन शक्तिमान लोकपालों का – हाथ में वज्र उठाये के समान कोई नियन्ता न हो, तो उनके द्वारा स्वामी से भयभीत सेवकों के समान नियमित कार्य नहीं हो पाते।

तत् च – और इसलिये –

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।। २/३/४

अन्वयार्थ – **इह** इस संसार में जीवित रहते, **शरीरस्य** देह के **विस्रसः** पतन के **प्राक्** पूर्व (व्यक्ति) **चेत्** यदि **बोद्धुम्** (उस ब्रह्म को) जानने में **अशकत्** समर्थ हो जाता है, (तो संसार से मुक्त हो जाता है, अन्यथा) **ततः** उस अज्ञान के कारण **सर्गेषु** अनेक लोकों (तथा) **लोकेषु** योनियों में **शरीरत्वाय** देहधारण करने को **कल्पते** विवश होता है।

भावार्थ – जीवित रहते, देह के पतन के पूर्व व्यक्ति यदि (उस ब्रह्म को) जानने में समर्थ हो जाता है, (तो संसार से मुक्त हो जाता है, अन्यथा) उस अज्ञान के कारण अनेक लोकों तथा योनियों में देहधारण करने को विवश होता है।

भाष्यम् – इह जीवन् एव चेत् अद्यशकत् शक्नोति शक्तः सञ्जानाति एतत् भयकारणं ब्रह्म बोद्धुम् अवगन्तुं प्राक् पूर्व शरीरस्य विस्रसः अवस्रंसनात् पतनात् संसार-बन्धनात् विमुच्यते। न चेत् अशकत् बोद्धुं तत्रः अनवबोधात् सर्गेषु – सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिनः इति सर्गाः पृथिवी-आदयः लोकाः तेषु सर्गेषु लोकेषु – शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णाति इत्यर्थः। तस्मात् शरीर-विस्रंसनात् प्राक् आत्मबोधाय यत्न आस्थेयः ।। २/३/४ (१०५)

भाष्य-अनुवाद – यदि कोई अपने इसी जीवन-काल में, शरीर के विघटित होने के पूर्व ही, भय के कारण-रूप इस ब्रह्म को जानने में सफल हो जाता है, तो वह संसार-रूप बन्धन से मुक्त हो जाता है। (और) यदि वह उसे जानने में असफल रहता है, तो सर्गों में – जिसमें प्राणियों की सृष्टि होती है, उसे सर्ग कहते हैं – अर्थात् पृथ्वी आदि लोकों में शरीर धारण करने के योग्य हो जाता है। तात्पर्य यह कि वह उन लोकों में पुन: शरीर धारण करता है। अत: शरीर के विघटित होने के पूर्व ही आत्मबोध की प्राप्ति के लिये प्रयास करना उचित है।

* * *

यस्मात् इहैव आत्मनः दर्शनम् आदर्शस्थस्य इव मुखस्य स्पष्टम् उपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकात् अन्यत्र, स च दुष्प्रापः, कथम्? इति उच्यते –

चूँकि, दर्पण में मुख के समान, आत्मा को स्पष्ट रूप से देख पाना इसी जीवन में सम्भव है, न कि किसी अन्य लोक में, सिवाय ब्रह्मलोक के – जिसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। कैसे? यही बताते हैं –

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि
यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा
गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।।२/३/५

अन्वयार्थ – **आदर्शे** निर्मल दर्पण में **यथा** जैसे (अपना मुख स्पष्ट दिखता है), **आत्मनि** (शुद्ध) बुद्धि में **तथा** वैसे (ही आत्मदर्शन होता है); **स्वप्ने** स्वप्न में **यथा** जैसे (अस्पष्ट) **पितृलोके** पितृलोक में **तथा** वैसे (ही), **अप्सु** जल में **यथा** जैसे (विभिन्न अंग स्पष्ट नहीं दिखते), **गन्धर्वलोके** गन्धर्वलोक में **तथा** वैसे (ही) **परि-ददृशे इव** दर्शन करता है, **ब्रह्मलोके** ब्रह्मलोक में **छाया-आतपयोः इव** प्रकाश तथा छाया के समान अत्यन्त स्पष्ट रूप से अर्थात् 'ब्रह्म सत्य है और बाकी सब कुछ मिथ्या' – इस विवेक के साथ आत्मदर्शन होता है।

भावार्थ–निर्मल दर्पण में जैसे (अपना मुख स्पष्ट दिखता है), (शुद्ध) बुद्धि में वैसे (ही आत्मदर्शन होता है); स्वप्न में जैसे (अस्पष्ट) पितृलोक में वैसे (ही), जल में जैसे (विभिन्न अंग आदि स्पष्ट नहीं दिखते), गन्धर्वलोक में वैसे (ही) दर्शन करता है, ब्रह्मलोक में प्रकाश तथा छाया के समान अत्यन्त स्पष्ट रूप से अर्थात् 'ब्रह्म सत्य है और बाकी सब कुछ मिथ्या' – इस विवेक के साथ आत्मदर्शन होता है।

भाष्यम् – यथादर्शे प्रतिबिम्ब-भूतम्। आत्मानं पश्यति लोको-अत्यन्त-विविक्तं तथा इह आत्मनि स्व-बुद्धौ आदर्शवत् निर्मली-भूतायां विविक्तम् आत्मनः दर्शनं भवति इत्यर्थः। यथा स्वप्ने अविविक्तं जाग्रद्-वासना-उद्भूतं तथा पितृलोके अविविक्तम् एव दर्शनम् आत्मनः कर्मफल-उपभोग-आसक्तत्वात्।

भाष्य-अनुवाद – जैसे व्यक्ति को दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब अत्यन्त स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है, वैसे ही अपनी बुद्धि में – तात्पर्य यह कि दर्पण के समान निर्मल हो चुकी बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट रूप में दर्शन होता है। जैसे स्वप्न में जाग्रत अवस्था के संस्कारों से उद्भूत आत्मा का अस्पष्ट दर्शन होता है, वैसे ही पितृलोक में भी, कर्मफल के भोग में आसक्ति होने के कारण आत्मा का अस्पष्ट दर्शन होता है।

यथा च अप्सु अविभक्त-अवयवम्-आत्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यते इव तथा गन्धर्वलोके अविविक्तम् एव दर्शनम् आत्मनः। एवं च लोकान्तरेषु अपि शास्त्र-प्रामाण्यात् अवगम्यते। छायातपयोः इव अत्यन्त-विविक्तं ब्रह्मलोक एव एकस्मिन्। स च दुष्प्रापः अत्यन्त विशिष्ट-कर्म-ज्ञान-साध्यत्वात्। तस्मात् आत्मदर्शनाय इहैव यत्नः कर्तव्य इति अभिप्रायः।। २/३/५ (१०६)

जैसे जल में शरीर अस्पष्ट रूप से (धुँधला) दिखायी देता है, वैसे ही गन्धर्वलोक में भी आत्मा का दर्शन अस्पष्ट होता है। शास्त्रों के प्रमाण से ज्ञात होता है कि अन्य लोकों में भी ऐसा ही है। केवल एक ब्रह्मलोक में ही यह (आत्म-) दर्शन छाया और प्रकाश के समान अत्यन्त स्पष्ट होता है। परन्तु उसकी प्राप्ति अति कठिन है और अनेक विशिष्ट प्रकार के कर्म तथा ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। अतः आत्मदर्शन के हेतु इसी जीवन में प्रयत्न करना उचित है – यही तात्पर्य है।

* * *

कथम् असौ बोद्धव्यः, किं वा तत् अबवोधे प्रयोजनम् – इति उच्यते –

इसे (आत्मा को) कैसे जानना चाहिये और उसे जानने का क्या उद्देश्य है, अब यही बताते हैं –

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।। २/३/६

अन्वयार्थ – (अब आत्मज्ञान का उपाय बताया जा रहा है) **पृथक्** (अपने कारण आकाश आदि पंचभूतों से) भिन्न-भिन्न रूप में **उत्पद्यमानानाम्** उत्पन्न हुई **इन्द्रियाणाम्** इन्द्रियों का (तथा) **इन्द्रिय** (भोग्य) वस्तुओं की **यत् पृथक्-भावम्** (आत्मा से) जो अत्यन्त पृथकता है, (और) **उदय-अस्तमयौ च** उनकी उत्पत्ति तथा लय को **मत्वा** जानकर **धीरः** धीर व्यक्ति **न शोचति** शोक नहीं करता।

भावार्थ–(अपने कारण आकाश आदि पंचभूतों से) भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न हुई इन्द्रियों का (तथा) (भोग्य) वस्तुओं की (आत्मा से) जो अत्यन्त पृथकता है, (और) उनकी उत्पत्ति तथा लय को जानकर धीर व्यक्ति शोक नहीं करता।

भाष्यम् – इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्व-स्व-विषय-ग्रहण-प्रयोजनेन स्व-कारणेभ्यः आकाश-आदिभ्यः पृथक्-उत्पद्यमानानाम् – अत्यन्त-विशुद्धात् केवलात् चिन्मात्र-आत्म-स्वरूपात् पृथक्-भावं स्वभाव-विलक्षण-आत्मकतां तथा तेषाम् एव इन्द्रियाणाम् उदय-अस्तमयौ च उत्पत्ति-प्रलयौ जाग्रत्-स्वाप-अवस्था-अपेक्षया न आत्मनः इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतः धीरो धीमान् न शोचति। आत्मनो नित्य-एक-स्वभावस्य अव्यभिचारात् शोक-कारणत्व अनुपपत्तेः। तथा च श्रुत्यन्तरं 'तरति शोकम् आत्मवित्' (छा. उ. ७/१/३) इति।। २/३/६ (१०७)

भाष्य-अनुवाद – श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ, जो अपने-अपने विषय को ग्रहण करने के उद्देश्य से, अपने आकाश आदि पृथक्-पृथक् कारणों (महाभूतों के सात्त्विक अंशों) से उत्पन्न हुई हैं; ये इन्द्रियाँ – अत्यन्त विशुद्ध केवल चिन्मात्र आत्मस्वरूप से अत्यन्त विलक्षण (भिन्न) हैं; साथ ही जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में इन इन्द्रियों की उत्पत्ति तथा विलय होता रहता है, न कि आत्मा का। विवेक के द्वारा इसे जानकर ज्ञानी व्यक्ति शोक नहीं करता। क्योंकि नित्य एक स्वभाव वाले आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं आने से उसमें शोक का कोई कारण असम्भव है। एक अन्य श्रुति में भी कहा गया है – 'आत्मज्ञानी शोक के पार चला जाता है।' (छा. उ. ७/१/३)

* * * ❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

जहि मलमयकोशेऽहंधियोत्थापिताशां
प्रसभमनिलकल्पे लिङ्गदेहेऽपि पश्चात्।
निगमगदितकीर्तिं नित्यमानन्दमूर्तिं
स्वयमिति परिचीय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ।।३९५।।

अन्वय – मलमय-कोशे अहं-धिया उत्थापित-आशां जहि, पश्चात् अनिल-कल्पे लिङ्ग-देहे अपि प्रसभम्, निगम-गदित-कीर्तिं नित्यं आनन्द-मूर्तिं इति परिचीय ब्रह्म-रूपेण तिष्ठ।

अर्थ – सर्वप्रथम मल-मूत्र से युक्त मलिन देह में अहं-बोध से उत्पन्न कामनाओं को नष्ट करो। तत्पश्चात् वायु के समान (चंचल) सूक्ष्म शरीर के साथ भी बलपूर्वक वैसा ही करो। वेदों में जिस नित्य आनन्दमूर्ति आत्मा की महिमा वर्णित है, वह मैं ही हूँ – ऐसा पहचान कर ब्रह्मरूप में अवस्थान करो।

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलम्
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि।।३९६।।

अन्वय – यावद् मनुजः शवाकारं भजति, तावद् अशुचिः जनन-मरण-व्याधि-निलयः परेभ्यः क्लेशः स्यात्। यदा आत्मानं शुद्धं शिवाकारम् अचलं कलयति, तदा हि तेभ्यः मुक्तः भवति। श्रुतिः अपि तद् आह।

अर्थ – जब तक मनुष्य शव-जैसे शरीर की उपासना करता है, तब तक वह अपवित्र रहता है, उसे दूसरों से क्लेश मिलता रहता है और वह जन्म, मृत्यु तथा रोग का आश्रय बना रहता है। (परन्तु) जब वह अचल शुद्ध मंगलमय आत्मा को अपना स्वरूप जान लेता है, तो तत्काल इन क्लेशों से मुक्त हो जाता है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है।*

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम्।।३९७।।

अन्वय – स्व-आत्मनि आरोपित-अशेष-आभास-वस्तु-निरासतः पूर्णं अद्वयं अक्रियं परं ब्रह्म स्वयं एव।

अर्थ – अपनी आत्मा पर आरोपित, असंख्य कल्पित वस्तुओं का निराकरण हो जाने पर स्वयं पूर्ण अद्वितीय निष्क्रिय परम ब्रह्म ही रह जाता है।

समाहितायां सति चित्तवृत्तौ
परात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे।
न दृश्यते कश्चिदयं विकल्पः
प्रजल्पमात्रः परिशिष्यते ततः।।३९८।।

अन्वय – सति निर्विकल्पे परात्मनि ब्रह्मणि चित्तवृत्तौ समाहितायां, अयं विकल्पः कश्चित् दृश्यते न। ततः प्रजल्प-मात्रः परिशिष्यते।

अर्थ – चित्तवृत्तियों के (समाधि द्वारा) सत्स्वरूप निर्विकल्प परात्मा ब्रह्म में विलीन हो जाने पर, उसे यह विकल्प (जगत्) बिल्कुल भी दिखायी नहीं देता। तब यह केवल वाणी का विषय मात्र रह जाता है। (इसमें सत्यबोध नहीं होता।)

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः।।३९९।।

अन्वय – 'विश्वं' इति अयं विकल्पः असत्-कल्पः। निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे एक-वस्तुनि भिदा कुतः?

अर्थ – उस एक ब्रह्म-वस्तु में यह वैचित्र्यमय विश्व रूपी विकल्प मिथ्या कल्पना मात्र है। उस निर्विकार, निराकार, निर्गुण परब्रह्म में भेद कहाँ से आयेगा?

द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभावशून्यैकवस्तुनि।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः।।४००।।

अन्वय – द्रष्टृ-दर्शन-दृश्य-आदि-भाव-शून्य-एक-वस्तुनि निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः?

अर्थ – द्रष्टा-दर्शन-दृश्य आदि भावों से रहित उस अद्वितीय निर्विकार, निराकार, निर्गुण ब्रह्म-वस्तु में भेद कहाँ से आयेगा?

कल्पार्णव इवात्यन्तपरिपूर्णैकवस्तुनि।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः।।४०१।।

अन्वय – कल्पार्णव इव अत्यन्त-परिपूर्ण-एक-वस्तुनि निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः?

अर्थ – महा-प्रलयकाल के समुद्र के समान अत्यन्त परिपूर्ण अद्वितीय निर्विकार, निराकार, निर्गुण ब्रह्म-वस्तु में भेद कहाँ से आयेगा?

तेजसीव तमो यत्र प्रलीनं भ्रान्तिकारणम्।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः।।४०२।।

अन्वय – तेजसि इव तमः यत्र भ्रान्ति-कारणं प्रलीनम्, अद्वितीये निर्विशेषे परे तत्त्वे भिदा कुतः?

अर्थ – प्रकाश में अन्धकार के समान जिसमें भ्रान्ति का कारण (अज्ञान) पूरी तौर से विलीन हो जाता है, उस अद्वितीय निर्विकार, निराकार, निर्गुण ब्रह्म-वस्तु में भेद कहाँ से आयेगा?

एकात्मके परे तत्त्वे भेदवार्ता कथं वसेत्।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः।।४०३।।

अन्वय – एकात्मके परे तत्त्वे भेद-वार्ता कथं वसेत्? सुख-मात्रायां सुषुप्तौ भेदः केन अवलोकितः?

अर्थ – एकात्म-भाव के परम तत्त्व (ब्रह्म) में भेद की बात ही भला कैसे बैठ सकती है? सुख-स्वरूप सुषुप्ति अवस्था (प्रगाढ़ निद्रा) में भला किसने देखा है?

❖ (क्रमशः) ❖

* द्रष्टव्य – छांदोग्य. ८/१२/१ व बृहदारण्यक. १/४/२, २/४/६

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२४४. मन रे, जागत रहियो भाई

गौतम बुद्ध ने बोधिसत्त्व रूप में तब एक ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया था। उन्होंने तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की और उसके बाद वे संन्यास लेकर हिमालय में रहने लगे। वे सारी रात टहलते हुए बिताते और सोते भी, तो उनकी आँखें खुली रहतीं, मानो जाग रहे हैं। एक देवता ने उनकी परीक्षा लेने की इच्छा से एक रात उनसे पूछा, "क्या तुम किसी ऐसे प्राणी को जानते हो, जो जागते हुए सोता हो और सोते हुए जागता हो?" बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया, "यदि आप मुझ पर विश्वास करें, तो बता दूँ कि मैं स्वयं जागते हुए सोता हूँ और सोते हुए जागता हूँ।" देवता ने फिर पूछा, वह कैसे सम्भव है? तपस्वी! क्या आप इसका खुलासा करेंगे?

बोधिसत्त्व ने बताया – हे देवता, जो धर्म से अनभिज्ञ है, संयम से अपरिचित है, उस व्यक्ति के सामने मैं सोते हुए जागता हूँ और जिन्होंने राग-द्वेष पर विजय पाई है तथा विद्या जिनकी दासी है, मैं उनके सामने जागते हुए सोता हूँ।

ये धम्मं नप्पजानन्ति, सज्जमोति दमोति च,
तेसु सुप्पं मानेसु, अहं जग्गामि देवते।
ये स रागोच दोसोच, अविज्जाच विराजिता,
तेसु जाग रमो नेसु, अहं सुतोस्मि देवते।।

उन्होंने और भी कहा, "नींद और जागरण मानव-जीवन -रूपी सिक्के के दो पहलू हैं। शरीर को नींद की जरूरत होती है, जो कि जड़ है और आचरण की आत्मा को जरूरत होती है, जो कि चेतन है। नींद के बिना शरीर जिन्दा नहीं रह सकता और जागरण के अभाव में आत्मा मृतवत् हो जाती है। मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर को तो नींद लेने दे, पर भीतर से उसे जागते रहना चाहिए। इससे शरीर तो शान्त रहेगा, पर आत्मा को लाभ होगा। इस अवस्था में लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि आन्तरिक शत्रु आक्रमण नहीं करेंगे। तथापि यह सामान्य मनुष्य के लिए सहज नहीं है और जिनके लिए यह सहज है, वे योगी कहलाते हैं।"

२४५. नारि नयन सर जाहिं न लागा

अत्रि ऋषि के चार शिष्य थे – कन्दर्पहर, मन्युहर, मोहहर और भयहर। एक दिन ऋषि के मन में आया कि इन चारों में श्रेष्ठ कौन है – इसकी परीक्षा की जाए। उन्होंने चारों को बुलाकर कहा, "मैं चार महीनों के लिये वन के एकान्त में तपस्या करना चाहता हूँ। हिंसक पशुओं से मेरी रक्षा करना तुम्हारा कर्त्तव्य है।" उन्होंने भयहर से बाघ की गुफा के सामने, मोहहर को नदी के तट पर, मन्युहर को पीपल के वृक्ष के पास और कन्दर्पहर को पिंगला वेश्या के घर के निकट खड़े रहने का आदेश दिया।

चारों गुरु द्वारा निर्दिष्ट स्थलों पर जा खड़े हुए। भयहर को जब सहसा सामने से एक बाघ तथा बाघिन आते दिखाई दिए, तो उसने जब उन दोनों की ओर एकटक देखना शुरू किया, तो वे ठिठककर खड़े हो गए। उसने उन्हें हिंसा न करने का उपदेश दिया। दोनों चुपचाप अपनी माँद से चले गए। इसी तरह मोहहर ने नदी से बाहर आए घड़ियालों को तथा मन्युहर ने पीपल-वृक्ष के पास के बिल से निकले विषैले साँप को उपदेश देकर वापस लौटने को विवश किया।

चौथा शिष्य कन्दर्पहर जब संन्यासी के वेष में पिंगला वेश्या के घर के पास गया, तो उसे देखकर उसे बड़ी खुशी हुई। उसने उन्हें ससम्मान अन्दर बिठाया और उसने व दासियों ने उन्हें नृत्य, गायन तथा अन्य चेष्टाओं से लुभाना चाहा, पर ये सारे प्रयत्न निष्फल रहे। इसके विपरीत वीतराग कन्दर्पहर द्वारा प्रतिदिन दिये गये प्रवचनों से उन्हीं को विरक्ति हो गई।

चार माह पूरे होने पर अत्रि ऋषि गुफा से बाहर आए और उन्होंने जब शिष्यों से पूछा कि इस दौरान उनका समय कैसे बीता, तो उन लोगों ने अपना सारा हाल कह सुनाया। तदुपरान्त भयहर ने कहा, "हम लोग यह जानने को उत्सुक हैं कि हम लोगों में सर्वश्रेष्ठ शिष्य कौन है?"

ऋषि बोले, "यद्यपि तुम चारों ने अपना दायित्व भलीभाँति निभाया है, तथापि मैं कन्दर्पहर को ही सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।" उन्होंने स्पष्टीकरण करते हुए कहा, "खूंख्वार व हिंसक जीवों को प्रेम और मधुर व्यवहार से वश में करना कठिन नहीं है, पर मनुष्य के लिये काम को वश में रखना अति कठिन है।" तीनों शिष्यों ने गुरु के कथन से सहमति व्यक्त की।

लोभ और मोह का त्याग संयम से हो सकता है। इससे मन की आन्तरिक शुद्धि तो होती है, किन्तु विषय वासना के प्रति निरासक्ति शाश्वत जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है। सांसारिक भोग पदार्थों व इन्द्रियजनित इच्छाओं पर नियंत्रण ही सच्ची विरक्ति या वैराग्य है। ❑❑❑
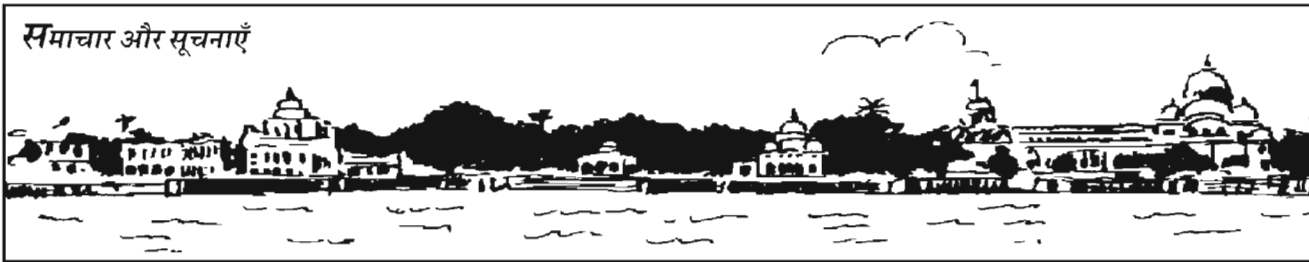
स्वामीजी पर डॉक टिकट जारी

१२ जनवरी, २०१३ को माननीय राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी ने स्वामी विवेकानन्द पर डॉक टिकेट जारी किया। ये टिकट स्वामीजी के चार चित्रों में चार प्रकार से मुद्रित हैं।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह, रायपुर – २०१३

स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में युवकों के व्यक्तित्व विकास, नागरिकों को प्रबुद्ध एवं जागरूक बनाने, गरीबों की सेवा एवं भक्तों के भक्तिवर्धन हेतु विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये गये। प्रस्तुत है उनकी संक्षिप्त रिपोर्ट –

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में युवा शिविर

६ जनवरी, रविवार, २०१३ को प्रात: ९ बजे से १.३० बजे तक रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम में बच्चों के व्यक्तित्व-विकास एवं चरित्र-निर्माण के लिये युवा-शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें कु.भा. ठाकरे पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. सच्चिदानन्द जोशी, पूर्व सांसद श्री गोपाल व्यास, विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, रायपुर के विख्यात मनोचिकित्सक डॉ. पी.एन. शुक्ला ने सभा को संबोधित किया। सभा-संचालन श्री पंकज जी और धन्यवाद ज्ञापन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया। शिविर में ३२५ युवकों ने भाग लिया।

रायपुर आश्रम द्वारा कंबल वितरण

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के द्वारा रायपुर और लखौली के आसपास के कई गाँवों के गरीबों को २०० कम्बल बाँटे गये।

पं. रविशंकर विश्वविद्यालय में सभा

१२ जनवरी,२०१३ को प्रात: ९ बजे पं. रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर की राष्ट्रीय सेवा योजना की इकाइयाँ और रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में राष्ट्रीय युवा दिवस मनाया गया। विश्वविद्यालय परिसर स्थित स्वामी विवेकानन्द जी की मूर्ति पर माल्यार्पण धूप-पुष्पार्पण के बाद सभा आरम्भ हुयी। सभा में विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. एस. के. पाण्डेय, विश्वविद्यालय के कुलसचिव श्री के. के. चन्द्राकर, विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा, डॉ. पूर्णेन्दु सक्सेना, राष्ट्रीय सेवा योजना के राज्य क्षेत्रिय अधिकारी डॉ. समरेन्द्र सिंह, रा.से.यो. के समन्वयक श्री सुभाष चन्द्राकर जी ने सभा को संबोधित किया। विभिन्न महाविद्यालयों के छात्र-छात्रायें और विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा के छात्र भी उपस्थित थे।

'आज के विवेकानन्द' पर सभा का आयोजन मुख्यमंत्री जी का आगमन

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर और छत्तीसगढ़ संस्कृति फाउंडेशन, रायपुर के संयुक्त तत्त्वाधान में १२, १३ जनवरी को स्वामी विवकानन्द की १५०वीं जयन्ती को 'राष्ट्रीय युवा दिवस' के रूप में आश्रम के सत्संग भवन में मनाया गया। शनिवार १२ जनवरी सायं ७ बजे की सभा के मुख्य अतिथि छत्तीसगढ़ के सर्वप्रिय मुख्यमन्त्री डॉ. रमन सिंह जी थे। उन्होंने कहा – ''वर्षों की आलस्यता को तोड़ने के लिये स्वामीजी का शॉक ट्रीटमेन्ट का विचार कालजयी है। धर्म को केवल मन्दिर-मस्जिद तक ही नहीं, जहाँ जरूरत है, वहाँ जंगलों, पहाड़ों में जाने की जरूरत है। मैं इस परिसर में आते ही ३० साल पहले चला जाता हूँ, जब मैं यहाँ साइकिल से आकर प्रवचन सुनता था, दवाई देते, पर्ची काटते। इस वर्ष पूरे राज्य से चयनित १००० मेधावी युवकों की संकल्प यात्रा कराने का विचार है। यह यात्रा कन्याकुमारी में विवेकानन्द की शिला पर जाकर सम्पन्न होगी, वे लोग वहाँ से कुछ प्रेरणा लेकर आयेंगे। छत्तीसगढ़िया विवेकानन्द, हमारे विवेकानन्द हैं। यह क्षण हम सबके लिये अविस्मरणीय है।'' सभा के मुख्य वक्ता छत्तीसगढ़ के विख्यात् अधिवक्ता श्री कनक तिवारी जी ने 'विद्रोही वेदान्ती विवेकानन्द' पर महत्वपूर्ण व्याख्यान देते हुये कहा – ''स्वामी विवेकानन्द के अस्पृश्यवाद को ही गाँधीजी ने अछूतोद्धार का आन्दोलन चलाया। एक साधु में जितनी विज्ञान की चेतना थी, उतनी देश के नेताओं में नहीं है। विवेकानन्द को समझने के लिये उनके साहित्यों को खँगालना होगा। हमें विवेकानन्द के सामने खड़े होकर ताली बजाने का समय नहीं, बल्कि उनकी मूर्ति के सामने खड़े होकर अपने को धिक्कारने का समय है। सेकूलरिज्म का अर्थ धर्मसापेक्ष होता है, धर्मनिरपेक्ष नहीं।'' सभा की अध्यक्षता स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने की। धन्यवाद ज्ञापन छत्तीसगढ़ संस्कृति फाउंडेशन के सह-संयोजक श्री सुभाष धुप्पड़ और संचालन विवेकानन्द विद्यापीठ के सचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा जी ने किया। आश्रम-छात्रावास के छात्रों के समापन गीत से सभा समाप्त हुयी। ❑❑❑

रामकृष्ण कुटीर, ब्राइट एंड कार्नर,

अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड) पिन - २६३६०१

फोन न. ०५९६२-२५४४१७,

E-mail : rkutir@gmail.com, rkutir@yahoo.in

आश्रम के भवनों के जीर्णोद्धार हेतु अपील

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी की प्रेरणा से श्रीरामकृष्ण के दो महान शिष्यों श्रीमत् स्वामी तुरीयानन्दजी महाराज तथा शिवानन्दजी महाराज द्वारा अल्मोड़ा (उत्तराखण्ड) में रामकृष्ण कुटीर (आश्रम) की स्थापना की गई थी। विगत सितम्बर २०१० में अल्मोड़ा में हुई प्रचण्ड वृष्टि तथा बादल फटने के फलस्वरूप आश्रम में भूस्खलन, दरारें तथा जमीन धँसने की घटना हुई। भूसतह में परिवर्तन से मन्दिर तथा अन्य भवनों को नुकसान पहुँचा है। इंजिनियरों ने अधिकांश रिहायशी भवनों के पुनर्निर्माण की सलाह दी है।

यह आश्रम मुख्यत: एक साधना-स्थली है, जहाँ श्रीरामकृष्ण संघ के संन्यासी, भक्त तथा शुभचिन्तक आकर और यहाँ के आध्यात्मिक परिवेश में रहकर मन की शान्ति प्राप्त करते हैं। स्वामी तुरीयानन्द जी ने यहाँ कठोर तपस्या की थी, उसकी शक्ति से इस आश्रम का परिवेश आज भी आध्यात्मिकता से सजीव तथा स्पन्दित हो रहा है।

आश्रम द्वारा प्रतिवर्ष निर्धन स्थानीय गिरिजनों तथा छात्रों के लिये कल्याणकारी कार्य भी किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त विगत वर्ष की प्राकृतिक आपदा एवं विनाश के बाद आश्रम के द्वारा संचालित राहत-कार्यों के दौरान ५००० ऊनी कम्बल भी अल्मोड़ा जिले के आपदा-प्रभावितों के बीच वितरित किये गये।

भगवान श्रीरामकृष्ण की कृपा और ठाकुर-माँ-स्वामीजी के अनुयाइयों एवं शुभचिन्तकों के सहयोग से ८ अप्रैल २०११ से आश्रम की भूमि तथा भवनों के जीर्णोद्धार का श्रीगणेश हो चुका है। कार्य प्रगति पर है। उपयुक्त आर्थिक संसाधन प्राप्त होने पर हमें आशा है कि हम यथाशीघ्र भूमि-सुधार तथा जर्जर भवनों के जीर्णोद्धार का कार्य सम्पन्न कर सकेंगे। हमारी अपील है कि आप सभी आगे आकर इस आश्रम के संरक्षण में अपना योगदान भेजकर सहयोग करें। जीर्णोद्धार तथा पुनर्निर्माण की इस योजना को पूरा करने हेतु हमें २ करोड़ रुपयों से भी अधिक की आवश्यकता होगी।

कृपया अपनी सहयोग-राशि का चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण कुटीर, अल्मोड़ा' के नाम से बनवाकर निम्नलिखित पते पर भेजें –

रामकृष्ण कुटीर, ब्राइट एंड कार्नर,
अल्मोड़ा – पिन – २६३६०१ (उत्तराखण्ड)

दो लाख या उससे अधिक की राशि के दाताओं के नाम, (इच्छा होने पर) आश्रम के किसी प्रमुख स्थान पर अंकित किया जायेगा।

आश्रम को दी गई दान की राशि आयकर की धारा ८०जी के अन्तर्गत कर मुक्त है।

स्वामी सोमदेवानन्द
अध्यक्ष